प्रकाशक

लाला खज़ानचीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचन्द्र लछमणदास संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता, गली नन्हेखाँ, कूचा चेलाँ, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली ।

द्वितीयावृत्ति

मुद्रक
रामाधार,
नया हिन्दुस्तान प्रेस
चाँदनी चौक, दिल्ली ।

भूमिका

साहित्य में समालोचना का स्थान—

साहित्य में आलोचना का उतना ही महत्व है जितना कि जीवन में काव्य का। काव्य जीवन की व्याख्या है तो समालोचना काव्य की व्याख्या। जैसे काव्य जीवन के विविध रूपों को दर्शाता हुआ उसके उत्कर्ष-अपकर्ष की स्थापना करता है वैसे ही आलोचना काव्य के गुण-दोष-निरूपण द्वारा उसकी वस्तु-स्थिति का उद्घाटन करती है। फलतः काव्य की यथार्थ स्थिति और यथोचित प्रगति के लिए समालोचना विशेष रूप से अपेक्षित होती है। सत्काव्य के प्रचलन-हेतु सत्समालोचना आवश्यक है। काव्य में अन्तर्निहित सौन्दर्य का उद्घाटन आलोचना के बिना होना असम्भव-सा है। आलोचना ही साहित्य के साहित्यिक सौन्दर्य, उसके गूढ़तम भावों एवं विचारों को सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती है, उस महार्णव में छिपे हुए रत्नों को प्रकाश में लाती है तथा उनका यथोचित मूल्यांकन कर यथार्थ स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। वास्तव में संसार में जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है समालोचना उसकी पक्षपात-शून्य निःस्वार्थ जाँच है। यही नहीं, भावी साहित्य-सृजन के लिए मार्ग प्रशस्त करना भी समालोचना का काम है। चिन्तन मानव का स्वभाव है और साहित्य उसी चिन्तन का एक परिणाम है। समालोचना इस चिन्तन-धारा को हितकर मार्ग की ओर प्रेरित करती और उसे विवेकशील बना कर विशुद्ध भावोद्रेक का अभ्यास कराती है; नई-नई चिन्तन-धाराओं के मार्ग प्रशस्त करती है जिससे साहित्य-सृजन के लिए नये-नये विषयों का उद्घाटन होता है तथा साहित्यकार तत्सम्बन्धी ज्ञान का उपार्जन करता हुआ नव-सृजन में रत होता है। साहित्यकार के इस ज्ञानार्जन में आलोचना विशेष रूप से सहायक होती है—भूतकाल के साहित्य

की आलोचना से यह ज्ञान प्रभूत परिमाण में उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार आलोचना का क्षेत्र प्रस्तुत साहित्य-समीक्षण ही न होकर भावी साहित्य-सृष्टि के लिए नये-नये मार्ग प्रशस्त करना भी है। भावी साहित्य के बीज आज की समालोचना में निहित हैं, इसमें सन्देह नहीं। यही कारण है कि समालोचना का प्रचलन प्रत्येक साहित्य में पाया जाता है। योरुप में साहित्यालोचन आचार्य अरस्तू के समय से ही आरम्भ हो गया था। उसके बाद वहाँ के विभिन्न देशों में अनेक सुप्रसिद्ध गम्भीर आलोचक हो गये हैं जिनके सतत प्रयत्न एवं मार्ग-निर्देशन के फलस्वरूप वहाँ के साहित्य की उत्तरोत्तर उन्नति हुई है, और होती जा रही है। ऐसे ही भारतीय साहित्य में भी समीक्षा ने प्राचीन काल में ही प्रौढ़ रूप प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार सर्वत्र साहित्य-सृजन के साथ साथ साहित्यालोचन भी प्रगति करता-करता कालान्तर में एक शास्त्र के रूप में मान्य हो गया। आज समालोचना न केवल आदर और सम्मान की वस्तु है बल्कि साहित्य का एक महत्व-पूर्ण अंग है। इस अंग का अध्ययन-अध्यापन भी उतना ही आवश्यक हो गया है जितना कि काव्य का।

संस्कृत साहित्य में समालोचना—

संस्कृत साहित्य में बहुत प्राचीन काल से ही वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर काव्य-समीक्षा प्रचलित हो गई थी। अग्नि-पुराण में रसों और अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन है। भरत मुनि नाट्य-शास्त्र एवं अलंकार-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने ही जाते हैं। उन्होंने इस कार्य को शास्त्रीय आधार पर अग्रसर किया और काव्य-समीक्षा को शास्त्रीय विवेचन के रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा दी। उनके पीछे तो आचार्यों की एक परम्परा ही दृष्टिगत होती है।

भारत में सुदीर्घकाल तक अनेक मनीषियों ने काव्य के गुण-दोषों की सूक्ष्म विवेचना करते हुए उसके बहिरंग और अन्तरंग स्वरूपों का

विशद विवेचन किया। अनेक रीति-ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं जिनमें काव्य-समीक्षा की साहित्यिक कसौटियाँ प्रस्तुत की गईं। समीक्षा ने शास्त्र का रूप धारण कर लिया और साहित्य-शास्त्र एवं काव्य दो रूपों में विभक्त हो गया। काव्यों का प्रणयन शास्त्रों के अनुकरण में किया जाता रहा। इस प्रकार मनीषी आचार्यों के कुशल हाथों में पड़कर काव्य-मीमांसा उत्तरोत्तर परीक्षण से उत्पन्न पुष्ट सिद्धान्तों के आधार पर खड़ी हो गई। आज के विद्वानों का कहना है कि भारतीय समीक्षा के आधारभूत सिद्धान्त इतने पुष्ट, व्यापक एवं सर्वदेशीय व सर्वकालीन हैं कि उन्हें कसौटी बना कर संसार भर के साहित्यों की आलोचना की जा सकती है।

भारतीय समीक्षा-प्रणाली—

यद्यपि काव्यालोचन सुदीर्घकाल से संस्कृत साहित्य में प्रचलित रहा है, परन्तु इसमें समीक्षण-शैली का रूप संकुचित-सा ही रहा। समीक्षा से तात्पर्य अन्तर्भाष्य ही रहा और इसका क्षेत्र यह था कि किसी विशेष रचना में कौन-सी मुख्य बातों का प्रतिपादन किया गया है, इसका विवेचन किया जाय तथा इसके अतिरिक्त उन बातों को भी दर्शाया जाय जो उस कृति में अवान्तर से प्राप्त होती हैं। इस कारण किसी ग्रन्थ की आलोचना उसकी टीका में ही प्रस्तुत कर दी जाती थी। अर्थ-व्याख्या के साथ-साथ टीकाकार विशेष-विशेष स्थलों का काव्यगत महत्व भी दिखला देते थे। इस प्रकार भाष्य और टीकाओं में ही समीक्षा-पद्धति प्रचलित रही और वह बँधी हुई रूढ़ि के अनुसार एक निर्दिष्ट मार्ग पर चलती रही। इसके अतिरिक्त कवि की विशिष्टता प्रदर्शन करने वाली उक्तियों से युक्त एक प्रकार की निर्णयात्मक पद्धति का भी प्रचार पाया जाता है जैसे 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्' इत्यादि। किसी कवि की सम्पूर्ण रचनाओं के आधार पर कवि की सामान्य प्रवृत्तियों का

अन्वीक्षण करने वाली समालोचना का प्रचार संस्कृत साहित्य में नहीं हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि आलोचना व्यापक और विस्तृत स्वरूप न धारण कर सकी और वह कुछ एक सिद्धान्तों एवं वादों के घेरे में ही घूमती फिरती रही। यह एक विशेष त्रुटि रही जिसका निराकरण वर्तमान काल में आकर ही हुआ।

हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास-क्रम—

हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि तथा उसके प्रचार-प्रवर्धन में आलोचना का विशेष हाथ रहा है। भारत में हिन्दी के शत्रुओं की क्रूर दृष्टि ही इस आलोचना के विस्तार-प्रचार में विशेष रूप से प्रेरक का काम करती रही। हिन्दी के आलोचकों ने अपने कवि एवं लेखक-गण को उस विकट परिस्थिति में मान-सम्मान दे दे कर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। समालोचकों ने अपने साहित्य के गुणों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और हिन्दी-भाषियों को शासकों की शनि-दृष्टि से परिचित कराते हुए अपने साहित्य की रक्षा एवं लालन-पालन में अनुरक्त किया। हिन्दी-भाषियों की जिस प्रवृत्ति को आज उनका पक्षपात कहा जाता है वह वास्तव में अनिवार्य थी।

हिन्दी साहित्य की चतुर्दिक्-समुन्नति एवं सम्मानपूर्ण स्थिति की जड़ में यही प्रवृत्ति मुख्य कारण रही है।

हिन्दी समालोचना के विकास को सुविधा के लिए तीन कालों में बाँटा जा सकता है।

(१) आदि-काल—

हिन्दी साहित्य में समालोचना का बीजारोपण बहुत प्राचीन-काल में ही हो गया था। उत्तर-मध्यकाल में यह बीज अंकुर के रूप में प्रस्फुटित हो उत्तरोत्तर वृद्धि करने लग गया था। यह तो स्वाभाविक ही था कि हिन्दी वाले संस्कृत वाङ्मय के परम्परा-गत काव्य-शास्त्र भण्डार का यथेष्ट उपयोग करते; और हुआ भी

यही। हिन्दी में संस्कृत-समीक्षा का पूरा-पूरा अनुसरण किया गया। सैंकड़ों वर्षों तक संस्कृत काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की रचना होती रही। इन सिद्धान्तों के प्रयोग का काम हिन्दी में बहुत विस्तृत एवं व्यापक रूप में हुआ। रसों और अलंकारों पर अनेक ग्रन्थ रचे गये। हिन्दी में साहित्यिक रचनाओं के सिद्धान्तों व नियमों को प्रतिपादित किया गया और संस्कृत के समान हिन्दी में भी समालोचना ने शास्त्र का रूप धारण कर लिया। हिन्दी साहित्य का समग्र रीति-काल इन काव्य-सिद्धान्तों अर्थात् रीति, अलंकार, छन्द, शैली, रस-पद्धति आदि की प्रयोगशाला ही के रूप में दिखाई देता है। यह कहना न होगा कि आदि-काल में आलोचना का रूप गुण-दोष-प्रदर्शन ही रहा। हिन्दी वालों ने रसों और अलंकारों की बँधी हुई लकीर के बाहर पैर न रखा। यह काल आलोचना के प्रारम्भ का था; अत: लेखों के रूप में विस्तृत आलोचना-पद्धति का प्रचलन अभी तक न हो सका। यह स्मरण रहे कि इस दिशा में अग्रसर न होने का एक कारण ब्रज-भाषा में विकसित गद्य का अभाव भी था। आधुनिक काल के आरम्भ अथवा भारतेन्दु-काल से पूर्व हिन्दी-समालोचना का यही स्वरूप रहा। इस पद्धति के प्रवर्त्तक आचार्य केशव माने जाते हैं।

(२) मध्य-काल—

यह काल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के साथ आरम्भ होता है। इस समय अंग्रेज़ों का आधिपत्य भारत में स्थापित हो चुका था। जनता का सम्पर्क इस नवागन्तुक जाति से बढ़ रहा था और उनके आचार-व्यवहार सभ्यता-संस्कृति एवं भाषा और साहित्य से भारतीय प्रभावित हो रहे थे। अंग्रेज़ी साहित्य की चकाचौंध ने भारतीयों को विशेष रूप से आकृष्ट किया और उसका प्रचार-विस्तार नित नूतन ढंग से भारत में बढ़ने लगा। अनेकानेक नवीन पद्धतियों एवं काव्य-शैलियों से भारतीयों का परिचय हुआ और उन शैलियों को अपनी भाषा एवं

साहित्य में अपनाने की अभिरुचि सजग हो उठी। सर्वप्रथम बंगला साहित्य अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित हुआ और उसमें अंग्रेज़ी शैलियों के अनुरूप नूतन शैलियों का ग्रहण हुआ। हिन्दी में भी नवीनता का प्रादुर्भाव हुआ। उधर खड़ीबोली भी साहित्यिक भाषा के रूप में अपना ली गई। खड़ीबोली के अंगीकृत होने से जहां हिन्दी साहित्य में बंगला और अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से अनेकानेक नवीन शैलियों आदि का ग्रहण हुआ वहाँ साहित्यिक समालोचना की रूपरेखा में भी परिवर्तन हुआ। खड़ीबोली के गद्य में आलोचना भी लेखों के रूप में सुगमता से की जाने लगी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में आलोचना-पद्धति का नवोदय भारतेन्दु-काल के साथ ही होता है।

हिन्दी समालोचना के इस नूतन स्वरूप के प्रवर्तक पं० बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ही माने जाते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम लाला श्रीनिवास-रचित 'संयोगिता-स्वयंवर' की नये ढंग पर आलोचना करके इस नूतन पद्धति का श्रीगणेश किया था। इस आलोचना में उन्होंने नाटक के दोष दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनकी पत्रिका 'आनन्द-कादम्बिनी' में तत्कालीन रचनाओं पर समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। ये आलोचनाएँ गुण-दोष-निरूपिणी प्राचीन पण्डिताऊ परिपाटी का ही नवरूप थीं। मनन और अध्ययन करने योग्य सामग्री का इस पद्धति में अभाव ही रहता था; पर यह पद्धति पत्र-पत्रिकाओं में प्रचलित रही। इस पद्धति को वर्तमान आलोचना का प्रथम रूप कहना ही उचित है।

वर्तमान आलोचना का दूसरा रूप आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय से आरम्भ होता है। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती पत्रिका' द्वारा 'प्रेमघन' जी के कार्य को आगे बढ़ाया। द्विवेदी जी की आलोचनाओं में अधिकतर दोषान्वेषण ही पाया जाता है। उनमें भाषा की शुद्धता को विशेष प्रधानता दी गई है और पुस्तकों तथा लेखों के दोषों और

विशेषतः भाषा के दोषों पर ही प्रकाश डाला गया है। पुस्तक रूप में समालोचना लिखने की परिपाटी का श्रेय द्विवेदी जी को ही है। उनकी 'हिन्दी-साहित्य की समालोचना' शीर्षक पुस्तक इस प्रकार की पहली पुस्तक है। इस पुस्तक में भी द्विवेदी जी ने उसी दोष-निरूपिणी शैली का ही प्रयोग किया है, गुण-प्रदर्शन पर दृष्टि ही नहीं डाली। द्विवेदी जी ने 'विक्रमांकदेव-चरितचर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' नामक दो और ग्रन्थों द्वारा संस्कृत-काव्यशैली का परिचय हिन्दी वालों को देने का कार्य किया और 'कालिदास की निरंकुशता' शीर्षक पुस्तक में कालिदास की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों पर प्रकाश डाला। ये पुस्तकें संस्कृत कवियों की परिचयात्मक आलोचनाएँ ही हैं, और इनके द्वारा संस्कृत साहित्य में प्रचलित विवेचन-शैली का दिग्दर्शन-मात्र ही हुआ। द्विवेदी जी ने लेख-बद्ध आलोचना-पद्धति के साथ-साथ पुस्तकाकार आलोचना की प्रेरणा दी और भाषा के सुधार की ओर विशेष ज़ोर दिया। इस प्रकार उनके समय में हिन्दी समालोचना का मार्ग कुछ और प्रशस्त हुआ।

इधर विद्वद्वर मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नव-रत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक दो ग्रन्थ लिखकर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवक्रांति पैदा कर दी। प्रथम पुस्तक में हिन्दी के चन्द से लेकर भारतेन्दु तक नौ महाकवियों का विवेचन है। इस स्तुत्य कार्य द्वारा मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी में विवेचनापूर्ण सत्समालोचना का मार्ग खोल दिया। दूसरा ग्रन्थ यद्यपि कवियों का इतिवृत्त संग्रह ही है तो भी अपनी कोटि का श्लाघ्य प्रयास है। मिश्रबन्धुओं की इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रशस्त समालोचना का मार्ग खुल गया।

इसके बाद 'विहारी' पर पं० पद्मसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। मिश्रबन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-पद्धति

की ओर संकेत किया था इस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है। 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' संस्कृत काव्यों के पद्यों के साथ बिहारी के दोहों की तुलना करके बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। इसी प्रकार इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हुए लेखक ने बिहारी के समक्ष उन कवियों को हीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-समीक्षात्मक विवेचन तथा तुलनात्मक आलोचन व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत गुण दोष-निरूपिणी शैली का निर्वाह किया, परन्तु वे भी रूढ़ि से बाहर न जा सके। बिहारी को येन केन प्रकारेण श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयत्न में लेखक आलोचना की मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया और कहीं-कहीं तो पक्षपात स्पष्ट लक्षित हो जाता है। मूल से छायानुवाद तक की कहीं-कहीं अनुचित रूप से महत्ता दर्शाने का प्रयत्न किया गया। इस पुस्तक की शैली रोचक है और बातचीत के ढंग की है। इन त्रुटियों के होते हुए भी लेखक का कार्य सराहनीय है। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है और साहित्य में अच्छा स्थान रखती है।

शर्माजी की यह तुलनात्मक शैली विशेष लोकप्रिय हो गई। लोग इसके पीछे बेतरह पड़ गये और तुलना करना ही समालोचना मानी जाने लगी। अनेक लेखक मैदान में उतर आये और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी आलोचना की भरमार हो गई। दो कवियों की रचनाओं में वस्तु-भाव-साम्य न होने पर भी तुलनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं और एक को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयत्न में कलम का ज़ोर आज़माया जाने लगा। इस प्रकार समालोचना की धूम तो खूब मची पर ऊँचे प्रकार की आलोचनाओं का अभाव ही रहा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि इस दौड़धूप में भाषा का रूप निखर उठा और खड़ीबोली परिष्कृत, परिमार्जित एवं साहित्यिक हो गई और उसका रूप स्थिर हो गया।

(३) नवीन-काल—

ऊपर के विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि अब तक हिन्दी-आलोचना का प्रवाह अपने मूल-स्थान से कुछ आगे अवश्य बढ़ आया था पर उसका मैलापन अभी तक दूर न हो सका था। मिश्रबन्धु, पद्मसिंह आदि की आलोचनाओं में समालोच्य कवि या काव्य की विशेषताओं पर दृष्टि तो अवश्य रखी गई पर उनमें पक्षपात की छाया का प्रभाव अवश्य बना रहा, जिसके कारण गुण या दोष प्रदर्शन का कार्य प्रतिफलित हुआ। 'देव बड़े कि बिहारी' के भद्दे झगड़े की प्रवृत्ति के फलस्वरूप कवियों को छोटा-बड़ा प्रमाणित करने वाली जो आलोचनाएँ हुईं उन्हें शुद्ध समालोचना में स्थान देना उचित नहीं। हाँ, कुछ गिनी-चुनी आलोचनाएँ अवश्य हुईं जिन्हें अपवाद-स्वरूप कहा जा सकता है। इधर योरुप की समीक्षा-पद्धति का आश्रय लेकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दी समालोचकों ने जो आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं वे अत्यन्त हास्यास्पद थीं। अंग्रेज़ी कवियों की समीक्षाओं से उद्धृत उक्तियों और पदावलियों को हिन्दी लिबास में हिन्दी कवियों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। इस प्रकार समालोचना-क्षेत्र में एक प्रकार की उच्छृंखलता ने प्रवेश कर लिया। आलोचना केवल व्यवसाय के लिए की जाने लगी और लक्ष्य से भ्रष्ट आलोचनात्मक लेखों की भरमार से पत्र-पत्रिकाओं के आकार बढ़ने लगे। ऐसे समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का आविर्भाव हुआ जिसे हिन्दी साहित्य के लिए दैवी वरदान ही समझना चाहिए। शुक्ल जी ने अपनी समर्थ लेखनी और सक्षम चिन्तनशीलता से हिन्दी-आलोचना की काया-पलट कर दी। शुक्ल जी ने हिन्दी-आलोचना को अभीष्ट मार्ग की ओर प्रेरित ही नहीं किया वरन् उसमें उस मार्ग पर चलने की गति का भी संचार किया। शुक्ल जी ने उस विवेचनात्मक या विश्लेषणात्मक आलोचना का द्वार खोला जिसमें कवि-कार्य अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूपों पर

गहन विचार एवं छान-बीन की जाती है तथा उसकी विशेषताओं को देश-काल की परिस्थिति में विचारते हुए निरूपित किया जाता है। कवि की विचारधारा में प्रवेश कर आलोचक तटस्थ रहकर कवि की अन्तर्वृ-त्तियों का विवेचन करता हुआ आलोचना करता है—उस शैली में शुक्ल जी ने आलोचना करने का मार्ग-प्रदर्शन किया। शुक्लजी ने तुलसी, सूर और जायसी पर जो आलोचनाएँ की हैं वे मार्मिक, मननशील, और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। शुक्ल जी आलोच्य कवि के लिए पूरी सहानुभूति से भरा हुआ हृदय लेकर कई दृष्टियों से विवेचना करते हुए तथ्य पर पहुँचने और उसे उद्घाटित करने में ही आलोचक की सफलता समझते थे। इनकी तुलसी, सूर और जायसी पर की हुई आलोचनाएँ बड़ी गंभीर, व्यापक एवं सुन्दर हैं और अपनी कोटि की अतुल्य। हिन्दी में इन आलोचनाओं का विशेष महत्व है। इनमें कवियों के गुण-दोष-निरूपण के साथ साहित्य में उनके स्थान-निर्धारण तथा उनके कवि-कर्म का व्याख्यात्मक स्पष्टीकरण बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ की रचना करके छायावाद के उच्छृंखल प्रवाह को नियन्त्रित कर दिया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर शुक्ल जी ने जो उपकारपूर्ण कार्य कर दिखाया हिन्दीवाले सदा उनके ऋणी रहेंगे। यह ग्रन्थ हिंदी साहित्य के सब प्रकार के ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक कोष है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए शुक्ल जी ने कई स्वतन्त्र निबंध भी लिखे। इस प्रकार शुक्ल जी एक आलोचक ही नहीं थे, वरन् एक सुविज्ञ पथप्रदर्शक भी थे। शुक्ल जी भारतीय काव्य-सिद्धांतों पर पूर्ण निष्ठा रखते थे और उन्होंने इन्हीं सिद्धांतों का स्पष्टीकरण एवं पुष्टीकरण किया है। सत्समालोचना के प्रवाह को तेज़ी के साथ आगे बढ़ाने वालों में बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्लजी के समान बाबूजी का भी महत्त्वपूर्ण

स्थान है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बाबू जी सर्वप्रथम अग्रसर हुए थे और उन्होंने विशेषतः योरुपीय साहित्य-सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में कला के नाना रूपों का विवेचनापूर्ण स्पष्टीकरण, पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय सिद्धान्तों के साथ समन्वय तथा साहित्य के विविध अंगों पर विचार-पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में बाबू जी ने एक प्रकार से साहित्य की रूप-रेखा ही उपस्थित कर दी है। यह पुस्तक साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए एवं विद्यार्थि-वर्ग के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। बाबूजी ने 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक एक वृहद्ग्रन्थ लिखा, जिसका पूर्वार्ध हिन्दी भाषा के विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति तथा उत्तरार्ध इतिहास के सम्बन्ध में गवेषणापूर्ण खोज तथा विवेचनात्मक आलोचना का परिचायक है। आपने गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु पर भी सुन्दर एवं सारगर्भित आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'भाषा-विज्ञान' के द्वारा भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। भाषा पर आपने कई प्रामाणिक निबन्ध भी लिखे। आपका सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दी की सेवाओं के लिए समर्पित रहा।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने भी आलोचना-क्षेत्र में प्रशंसनीय काम किया। आपकी गणना मननशील लेखकों में की जाती है। आप क्लिष्ट से क्लिष्ट एवं सरल से सरल हिंदी लिखने की क्षमता रखते थे। उनके गद्य में भी पद्य का-सा आनन्द मिलता है। आप प्रसिद्ध भाषा-मर्मज्ञ थे। आपकी 'संदर्भ-सर्वस्व' पुस्तक सुन्दर एवं मार्मिक आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है जो साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त लाभदायक है। स्वयं महाकवि होने के कारण कवि-कर्म की जो मार्मिक व्याख्या एवं सूक्ष्म तथा सारगर्भित विवेचना आपकी लेखनी से हुई वह सर्वथा ग्रहणीय है। 'हिन्दी और उसके साहित्य का विकास'

नाम का ग्रन्थ पटना विश्वविद्यालय में दिये गये आपके सारपूर्ण भाषणों का संग्रह है। इसी समय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'हिन्दी-साहित्य विमर्श' और 'विश्व-साहित्य' दो आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित कीं। 'विश्व-साहित्य' में पाश्चात्य मीमांसा के आधार पर लिखे गये अत्यन्त उपयोगी और प्रेरणाप्रद लेखों का संग्रह है। आपके निबंध गंभीर विचारों से युक्त होते हैं और विद्वत्ता, गंभीर अध्ययनशीलता एवं विशद विचार-शैली के परिचायक होते हैं। आप हिन्दी के गिने-चुने सुयोग्य विद्वानों एवं प्रकाण्ड पंडितों में से हैं। द्विवेदी जी के बाद 'सरस्वती' के सम्पादन का भार आप ही के सुयोग्य हाथों में आया था।

नन्ददुलारे वाजपेयी जी भी प्रतिष्ठित आलोचकों में से हैं; आप साहित्य के अध्ययनशील विद्वान्, गम्भीर आलोचक तथा मननशील विचारक हैं। आपने सूरसागर और रामचरितमानस के प्रामाणिक सम्पादन भी किये। आपने कई मौलिक आलोचनात्मक पुस्तकों की रचना की जिनमें 'जयशंकर प्रसाद','बीसवीं शताब्दी—हिन्दी साहित्य', 'तुलसीदास—एक अनुशीलन' आदि गंभीर तथा विवेचनापूर्ण आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं। वाजपेयी जी की स्वतन्त्र प्रकृति को ही उनकी आलोचनाओं की स्पष्टवादिता का श्रेय है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा सुप्रसिद्ध भाषा-विशेषज्ञ हैं और भाषा-विज्ञान के प्रामाणिक विद्वान्। व्रजभाषा-काव्य के आप मर्मज्ञ पण्डित तथा अधिकारी लेखक माने गये हैं। 'हिन्दी भाषा का इतिहास', 'हिन्दी भाषा और लिपि' भाषा-सम्बन्धी गवेषणा के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त आपने 'ग्रामीण हिन्दी', 'अष्टछाप' तथा 'व्रजभाषा व्याकरण' लिख कर भाषा के साथ खिलवाड़ करने वाले लेखकों के लिए शुद्ध परिमार्जित भाषा का शास्त्रीय अध्ययन उपस्थित कर दिया। आपकी शैली अत्यन्त विशद और भाषा सरल होती है। गहन से गहन विषय को सरलता से स्पष्ट करने में आप बहुत कुशल हैं। आप सुयोग्य विद्वान्

एवं मननशील साहित्यज्ञ हैं—डा० नगेन्द्र भी एक अध्ययनशील विद्वान्, साहित्य-प्रेमी एवं उदीयमान आलोचक हैं। आपने विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें लिखकर उनके लिए साहित्य-पारायण में सुगमता पैदा कर दी है। आपकी आलोचनाएँ मननशील एवं गवेषणात्मक हैं। आपकी इस प्रकार की पुस्तकों में "सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत—एक अध्ययन' और 'आधुनिक हिन्दी नाटक' प्रसिद्ध हैं। ये पुस्तकें सुरुचिपूर्ण आलोचना के सुन्दर उदाहरण हैं। आपसे हिन्दी साहित्य को बहुत आशा" हैं।

श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी वर्तमान आलोचना-क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। आप द्विवेदीद्वय के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप दोनों की आलोचनाओं का हिन्दी जगत में विशेष आदर और मूल्य है। ये आज के युग के गंभीर विवेचक एवं सुघड़ पारखी माने जाते हैं। उन्होंने 'सुर-साहित्य', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' नाम की आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं।

शान्तिप्रिय जी प्रतिष्ठित कवि और यशस्वी समालोचक हैं। आपने 'हमारे साहित्य निर्माता', 'साहित्यिकी', 'सञ्चारिणी', 'कवि और काव्य' तथा 'युग और साहित्य' नाम से अनेक विवेचनापूर्ण आलोचना-पुस्तकों की रचना की है। आपकी शैली बड़ी अनूठी है। पढ़ते ही हृदय पर सीधा प्रभाव डालनेवाली है। इनकी शैली की एक विशेषता यह है कि आलोचना जैसे गंभीर और तात्विक विषय में भी काव्य का सा आनन्द मिलता है। वास्तव में आपके उक्त सभी ग्रन्थ आलोचना न होकर स्वतन्त्र काव्य-कृतियाँ ही हैं। आपकी शैली और भाषा दोनों में भावमयता का माधुर्य ओतप्रोत रहता है। आपने आलोचना के लिए एक नवीन शैली का निर्माण किया है जिसमें भावना और विचारणा का अत्यन्त प्रभावात्मक समन्वय है। आपकी भाषा भी अत्यन्त सरस, विशद एवं हृदयाकर्षक होती है।

प्रो०गुलाबराय जी का भी आधुनिक आलोचना-साहित्य में विशेष स्
है। आप सुप्रसिद्ध दर्शन-वेत्ता एवं गंभीर समालोचक हैं। आपका अध्य
अत्यन्त विस्तृत एवं गहन है। 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिह
'हिन्दी-नाट्य-विमर्श' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक आलोच
ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त आप 'साहित्य-सन्दे
मासिक पत्र द्वारा हिन्दी-आलोचना-साहित्य के लिए जो उपयोगी
कर रहे हैं वह अभिनन्दनीय है। आलोचना की दृष्टि से यह पत्र अ
कोटि का एक ही है। इसमें आलोचना का स्तर बहुत प्रशस्त है
जो लेख इसमें प्रकाशित होते हैं वे सार-गर्भित एवं उच्च कोटि के
हैं। इस पत्र द्वारा सुरुचिपूर्ण आलोचना का श्लाघनीय प्रसार
प्रचार हो रहा है। वास्तव में हिन्दी आलोचना की वांछित प्रगति
लिए ऐसे पत्रों की बहुत ही अधिक आवश्यकता है।

डा० इन्द्रनाथ मदान पंजाब प्रान्त के प्रसिद्ध साहित्यज्ञ और उद्
मान आलोचक हैं। सर्वप्रथम आपने 'Modern Hindi lite
ture' पुस्तक अंग्रेजी भाषा में लिखकर अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त ल
के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिविधि एवं विविध प्रवृत्ति
का विवेचनापूर्ण परिचय दिया। अभी हाल में ही 'प्रेमचन्द :
विवेचना' पुस्तक प्रकाशित कर प्रेमचन्दजी की साहित्यिक प्रवृत्तियों
आपने गवेषणापूर्ण प्रकाश डाला है। आपकी लेखनी में बल
अभिव्यक्ति में स्पष्टता है। भाषा सरल और सुबोध है।

साहित्य के इस अंग में सिद्धान्त-निरूपक प्रश्नात्मक-शैली,
आलोचना-शैली, योरुपीय ढंग की आलोचना-शैली तथा भावा
समीक्षा-पद्धति आदि में दिनोदिन महत्वपूर्ण रचनाएँ हो रही
आलोचनात्मक निबन्धों की ओर अधिकाधिक आकर्षण दीख पड़
है—लेखकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। पुस्तका
आलोचनाएँ एवं साहित्य-समीक्षाएँ भी साहित्य-भण्डार को भरती

रही हैं। इस प्रकार आलोचना की दृष्टि से भी नवीन-काल विशेष महत्त्व का काल है। आलोचना के सभी क्षेत्रों की वैज्ञानिक ढंग पर छान बीन इसी काल में होने लगी है और उसके अंग-प्रत्यंग व अन्त-र्बाह्य सभी पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। नित्य नये विद्वान् इस क्षेत्र में आते जा रहे हैं। लेखकगण अपने उत्तरदायित्व को भी समझने लगे हैं और अध्ययनपूर्ण सत्समालोचना का मार्ग प्रशस्त होता जा रहा है। इससे यह आशा दृढ़ होती जा रही है कि हमारे समालोचना-साहित्य का भविष्य और भी उज्ज्वल होगा।

प्रस्तुत संग्रह में हिन्दी के प्रतिनिधि-आलोचकों की कृतियों में से ऐसे निबन्धों का संकलन किया गया है जो भाषा की शुद्धता, विषय एवं प्रचलित शैलियों की विविधता का दिग्दर्शन कराने के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिए ज्ञानोपार्जन की भी उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। स्थानाभाव के कारण अनेक प्रतिष्ठित लेखकों की रचनाओं को इच्छा होने पर भी हम संकलित नहीं कर सके हैं। इतने पर भी हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास तथा भिन्न-भिन्न रूपों के यथेष्ट प्रत्यक्षी-करण का प्रयास किया गया है। यदि यह संकलन विद्यार्थियों के लिए आलोचना के शुद्ध स्वरूप का परिचय देने और काव्य-समीक्षा की प्रेरणा पैदा करने में उपयोगी सिद्ध हो सका तो संकलयिता को हार्दिक प्रसन्नता होगी। अन्त में हम उन विद्वान् लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी रचनाओं का उपयोग इस संग्रह में किया गया है और दिवंगत लेखकों के प्रति विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके मान्य उत्तराधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं तथा इस दुःसाहस के लिए क्षमा चाहते हैं।

रामलाल

साहित्य की महत्ता

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

ज्ञान-राशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती, तो वह रूपवती भिखारिन की भांति, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्री-सम्पन्नता, उसकी मान-मर्य्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके

निबन्ध-सूची

१. साहित्य की महत्ता	स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी	१६
२. विहारी का व्यापक पाण्डित्य	स्व० पं० पद्मसिंह शर्म्मा	२४
३. ललित कलाएँ और काव्य	स्व० डा० श्यामसुन्दरदास	४७
४. काव्य-पद्धति और हिन्दी का श्रेष्ठ कवि	स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	६५
५. कवि कौन है ?	स्व० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय	८०
६. साहित्य में क्लिष्टता	श्री सियारामशरण गुप्त	८५
७. कला	श्री हरिभाऊ उपाध्याय	९३
८. मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी-साहित्य	डा० धीरेन्द्र वर्मा	१०६
९. प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व	श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी	११७
१०. साहित्य और जीवन का सम्बन्ध	पं० नन्ददुलारे वाजपेयी	१२४
११. प्रेमचन्द : सामाजिक उद्देश्य	डा० इन्द्रनाथ मदान	१३१
१२. हिन्दी-उपन्यास	डा० नगेन्द्र	१५०
१३. लोक-गीत	प्रो० नरोत्तमदास स्वामी	१६६

साहित्य की महत्ता

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

ज्ञान-राशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती, तो वह रूपवती भिखारिन की भांति, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्री-सम्पन्नता, उसकी मान-मर्य्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का. उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके

साहित्य रूपी आइने ही में मिल सकती है। इस आइने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी और कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है, वह उससे यदि न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है, उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्ति-सम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करनी है तो हमें श्रम-पूर्वक बड़े उत्साह से साहित्य का उत्पादन और

प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर को विसर्जित कर डालना चाहिए।

आँख उठा कर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है। शासन-प्रवन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरुप में हानिकारक धार्मिक रूढ़ियों का नाश साहित्य ही ने किया है। जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य-भावों को भी उसी ने पाला-पोसा है। पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया? साहित्य ने! साहित्य ने!! साहित्य ने!!! जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जीवित करने वाली संजीवनी औषधि का आकार है, जो साहित्य पतितों को उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रह कर किसी दिन अपना

अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ हो कर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाज-द्रोही है, वह देश-द्रोही है, वह जाति-द्रोही है; किंबहुना, वह आत्म-द्रोही और आत्म-हन्ता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा कि जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेञ्च भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंग्रेजी भाषा भी फ्रेञ्च और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को विजेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मंद ज़रूर पड़ जाती है। पर यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलने वाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इङ्गलैण्ड चिरकाल तक फ्रेञ्च और लैटिन भाषाओं के माया-जाल में फंसे थे। पर, बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति

का साधक है। विदेशी भाषा का चूडान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवकाश होने पर हमें एक नहीं अनेक भाषाएँ सीख कर ज्ञानार्जन करना चाहिए। द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोक-भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म है।

तेरहवें सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के भाषण से

बिहारी का व्यापक पांडित्य

(पद्मसिंह शर्मा)

कवि के विषय में किसी विद्वान् का कथन है कि 'कवि प्रकृति का पुरोहित होता है'—जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति-रिवाजों का अन्तरंग ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्व तक नहीं पहुँचती। तह तक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकल सकती, जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक हो और सैकड़ों बार की देखी-भाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखाने वाली हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। "अज्ञेयमीमांसा" करने बैठना, आकाश के तारे तोड़ने दौड़ना कवि का काम नहीं है। कभी-कभी कवि को ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकों का काम है। कवि का काम इससे भी बड़ा गहन है। केवल व्याकरण और छन्दःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञ होकर

वर्ण-मात्रा के कांटे में नपी-तुली पद्य-रचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आजकल प्राय: समझा जाने लगा है। सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के पर्यवेक्षण की असाधारण शक्ति रखने के अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है, जैसा कि कविता-मर्मज्ञों ने कहा है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवे: ॥

अर्थात्—न ऐसा कोई शब्द है, न ऐसा अर्थ है, न ऐसा कोई न्याय है और न कोई ऐसी कला है, जो काव्य का अंग न हो, इसलिए कवि पर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है! इस सब भार को अपनी लेखनी की नोक पर उठाने की जो शक्ति रखता है, वही महाकवि है।

सकलविद्यास्थानैकायतनं पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम्।

—राजशेखर

(जहाँ चौदह विद्या-स्थानों का एक जगह संगम होता है, वह 'काव्य' पन्द्रहवाँ 'विद्या-स्थान' है।)

यह सब बातें बिहारी की कविता में प्रचुर परिमाण में पाई जाती हैं। सतसई पढ़ने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति-पर्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत साहित्य का पांडित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृत के महारथी कवियों के मुक़ाबले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके, नवीन चमत्कार

लाकर कहीं-कहीं उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों से भी इनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था; जैसा कि आगे के अवतरणों से सिद्ध है।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पड़ती थी। यही नहीं, जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचतीं, वहाँ भी वह पहुँचती थी! 'जहाँ न जाय रवि वहां जाय कवि' इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोकग्राही पदार्थ पर पड़ कर अपने असली रूप में प्रतिफलित होती हैं, दूसरी नहीं, परन्तु बिहारी की अद्भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ पर भी पड़ा, उसे ही अपने रूप में चमका कर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकंडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रमाद, वैद्य की पर-प्रतारणा, ज्योतिषी का प्रहयोग, सूम की कंजूसी जिसे देखिये वही कविता के रंग में रँगा चमक रहा है।

इस जगह सब के उदाहरण देना कठिन है, इसलिए इस प्रकार के कुछ नमूनों ही से सन्तोष करना होगा। किसी काव्य पर कुछ लिखते हुए प्रारम्भ में उस काव्य से सुन्दर सूक्तियों के नमूने देने की रीति है। हम भी चाहते थे कि ऐसा करें—इस प्रस्तावना में बानगी के तौर पर कुछ सूक्तियों के नमूने सतसई से

उद्धृत करें—पर इस इच्छा से विवशता-वश विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एक तो अनेक सूक्तियाँ इस प्रसंग में आ जाएँगी, इसलिए पृथक् देने की कुछ आवश्यकता न रही। दूसरे सतसई में किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है। इस खाँड की रोटी को जिधर से तोड़िए उधर से ही मीठी है, इस जौहरी की दूकान में सब ही अपूर्व रत्न हैं। बानगी में किसे पेश करें। एक को खास तौर पर आगे करना दूसरे का अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टि से हम समझते हैं, अपराध है। रुचिभेद से किसी को कोई सूक्ति अच्छी जंचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसी को शब्दालंकार पसन्द है, किसी को अर्थालंकार, कोई वर्णन-वैचित्र्य पर रीझता है तो कोई सादगी पर फ़िदा है। कोई रस पर मरता है तो कोई शब्दसौष्ठव पर जान देता है। कोई पदार्थ का उपासक है तो कोई पदावलि के पाँव पूजता है।

सतसई के विषय में स्वर्गीय राधाकृष्णदासजी की यह सम्मति सोलह आना सत्य है—

'यह सतसई भाषा की कविता की टकसाल है'

और बिहारीलाल के सम्बन्ध में गोस्वामी श्रीराधाचरणजी की इस उक्ति में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि—

"यदि सूर-सूर, तुलसी शशी, उडगन केशवदास हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर उसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चहकने लगते हैं। फिर

बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध है और शब्द-रचना इतनी मधुर है कि सूरदास को छोड़कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी कठिन है। सतसई के सम्बन्ध में ब्रजभाषा के किसी पुराने पारखी की यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

> ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि-विसाल।
> सबकी भूषन सतसई, रची बिहारीलाल॥

ब्रजभाषा के मर्म का विदग्ध हृदय इस कथन को सत्यता का साक्षी है। ब्रजभाषा को सिर्फ सूँघकर परखने वाले कुछ महान् पुरुषों की दिव्य दृष्टि में इनकी भाषा वैसी बढ़िया चाहे न हो पर भाषा के जौहरी भाव से भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषा पर लट्टू हैं। इस समय जबकि खड़ी बोली के जोशीले नौजवानों की ब्रिगेड ने ब्रजभाषा के 'बिजन' का बिगुल बजाकर कत्लेआम मचा रक्खा है, खड़ी बोली की किरानपुरी के तोते तक जब इसे देखकर 'दारय, मारय, भस, 'पिच' कहकर चिल्ला रहे हैं, तब ब्रजभाषा के सौष्ठव की दुहाई देना. नक्कारखाने में तूती की आवाज़ पहुँचाने के बराबर है। ब्रजभाषा के मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि सतसई की भाषा कैसी कुछ है, और जो नहीं जानते हैं वे किसी के समझाने से भी क्या समझेंगे।

गणित का ज्ञान

कहत सबै बैंदी दिये, आँक दसगुनों होत।
तिय लिलार बैंदी दिये, अगणित बढ़त उदोत॥

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक विकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होत॥

गणित के मूल सिद्धान्त का कविता के रूप में कितना मनोहर निदर्शन है। गणित के सिद्धान्त से अपने मतलब की बात कितने अच्छे ढंग से सिद्ध की है। बिन्दु (शून्य) देने से अंक दसगुना हो जाता है, और तिरछी विकारी लगाने से दाम के रुपए बन जाते हैं, यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना कवि ही जानता है। गणित-शास्त्र में दसगुणोत्तरी संख्या रखने की चाल है। इकाई को दस से गुनकर दहाई और उसे दस से गुनकर सैंकड़ा (शत) इत्यादि दशगुणोत्तर संख्या बनाते हैं। दसगुणित नहीं, असंख्य संख्या-गुणित अंक (उद्योत) पैदा हो जाते हैं। यह कवि की प्रतिभा का ही काम है।

ज्योतिष का चमत्कार

मंगल बिंदु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रस मय किय लोचन जगत॥

इस सोरठे में बिहारी ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का परिचय बड़े मनोहर रूप में दिया है। ज्योतिष का सिद्धांत है कि जब

बृहस्पति और मंगल के साथ, चंद्रमा एक राशि पर आता है तो देशव्यापक वृष्टि होती है—

गुरु-भौम-समायोगे करोत्येकार्णवां महीम् ।

(अर्घप्रकाश)

ज्योतिष के इस तत्त्व को कवि ने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषों को जितना आनन्द इस भौतिक वृष्टि से होता है, उससे कहीं अधिक विदग्ध सुहृदयों को इस कवितामृत वर्षा से होता है।

माथे पर लगी लाल बिंदी, मंगल है। मुख चन्द्रमा है। ऊपर केसर का (पीला) तिलक बृहस्पति है। इन सब ने एक नारी (नाड़ी)—स्त्री राशि—में इकट्ठे होकर संसार के नेत्रों को रस-मय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मंगल का रंग लाल होता है इसलिए उसका 'अंगारक' और 'लोहितांग' नाम है। सो यहाँ बिंदी है। बृहस्पति का वर्ण पीला है वह यहाँ केसर का तिलक है। मुख की चन्द्रता प्रसिद्ध ही है। 'नारी' और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं (रस-जल और शृङ्गार, 'रसो जलं रसो हर्षो रसः शृंगार उच्यते')।

यह सोरठा, श्लेषानुप्राणित समस्त-वस्तु-विषय-सावयव रूपक का और कवि के ज्योतिष-ज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

महाकवि ग़ालिब ने भी (नीचे के शेर में) ज्योतिष के फलादेश की परीक्षा आशिकों की क़िस्मत पर करनी चाही है, और मौलाना हाली ने इसे कवि की प्रतिभा का उत्तम उदाहरण बतला कर कहा है कि आशिक अपनी धुन में इतना मग्न

(तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलब की सूझती है, ज्योतिषी ने जो साल को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसार की अन्य घटनाओं पर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं। वह देखना चाहता है कि देखें आशिक इस साल बुतों से क्या फ़ैज़ (लाभ) पाते हैं।

देखिए पाते हैं उश्शाक़ बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमन ने कहा कि यह साल अच्छा है।

(ग़ालिब)

सनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह॥

ज्योतिष का सिद्धान्त है कि जन्म-समय में यदि शनि, गुरु का राशि—अर्थात् धन या मीन में, और स्वराशि—मकर या कुंभ में तथा उच्चराशि—तुला में हो तो इस सुलग्न में जन्म लेने वाला मनुष्य नरपति होता है। जैसा कि लिखा है—

गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नरपतिः

(वराहमिहिररचित बृहज्जातक)

कवि के स्नेह-बालक की जन्म-कुंडली में देखिए, यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—आँख का काजल—शनि है। चख—चक्षु मीन है—(शनि का रंग नीला है, और मीन, नेत्र का उपमान है, यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देह रूप देश पर अधिकार जमा कर—राजा बन कर—क्यों भोग न करेगा? अवश्य करेगा। ज्योतिष की बात कभी झूठी हो सकती है! ज्योतिष के फलादेश में किसी

(तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलब की सूझती है, ज्योतिषी ने जो साल को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसार की अन्य घटनाओं पर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं। वह देखना चाहता है कि देखें आशिक इस साल बुतों से क्या फ़ैज़ (लाभ) पाते हैं।

देखिए पाते हैं उश्शाक बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमन ने कहा कि यह साल अच्छा है।

(ग़ालिब)

सनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह॥

ज्योतिष का सिद्धान्त है कि जन्म-समय में यदि शनि, गुरु की राशि—अर्थात् धन या मीन में, और स्वराशि—मकर या कुंभ में तथा उच्चराशि—तुला में हो तो इस सुलग्न में जन्म लेने वाला मनुष्य नरपति होता है। जैसा कि लिखा है—

गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नरपतिः

(वराहमिहिररचित वृहज्जातक)

कवि के स्नेह-बालक की जन्म-कुंडली में देखिए, यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—आँख का काजल—शनि है। चख—चक्षु मीन है—(शनि का रंग नीला है, और मीन, नेत्र का उपमान है, यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देह रूप देश पर अधिकार जमा कर—राजा बन कर—क्यों भोग न करेगा? अवश्य करेगा। ज्योतिष की बात कभी झूठी हो सकती है! ज्योतिष के फलादेश में किसी

को सन्देह भी हो सकता है, पर बिहारी के इस ज्योतिष में सन्देह का अवसर नहीं है।

तिय तिथि तरनि-किसोर वय पुन्न (पुण्य) काल सम दोन।
काहू पुन्यन पाइयत बैस-संधि-संक्रोन ॥

इस दोहे में संक्रांति के पुण्य प्राप्य पर्व का कितना अच्छा रूपक है। इस रूपक के 'ब्रह्मकुण्ड' में रसिक भक्तों के मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

वैद्यक विज्ञान

मैं लखि नारि ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वहई रोग निदान, वहै वैद औषध वहै ॥

कविता के नलके में वैद्यक-विज्ञान का 'आसव' खींचकर इस सोरठे को शीशी में भर दिया है। वैद्यक में और है क्या? नाड़ी-ज्ञान, रोगनिदान, औषध और वैद्य! मूल बातें यह तीन चार हैं, बाकी इसकी व्याख्या है।

नारी (नाड़ी)-ज्ञान से क्या अच्छा रोग का निदान किया है!

"वहई रोग निदान, वहै वैद, औषध वहै"

वही रोग का निदान (आदि कारण) वही वैद्य-चिकित्सक और वही औषध है।

वह तर्ज़ अहसान करने का तुम्हीं को ज़ेब देता है,
मरज़ में मुब्तला करके मरीज़ों को दवा देना ॥
(अकबर)

मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का।
उसी को देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पे दम निकले ॥
(ग़ालिब)

यह बिनसत नग राखिकै जगत बड़ौ जस लेहु !
जरी विषम जुर-ज्याइये आय सुदर्शन देहु ॥

इस नष्ट होते हुए नग (रत्न-कामिनी-रत्न) को बचा कर जगत् में बड़ा यश प्राप्त करो, विषमज्वर में जली हुई को 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग-व्याधि ने विषमज्वर का रूप धारण किया है, उसकी निवृत्ति के लिए सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

इतिहास-पुराण-परिचय

बिरह बिथा-जल परस बिन, बसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जल-थंभ बिधि, दुरजोधन लौं लाल ॥

दुर्योधन को 'जलस्तम्भन विद्या' सिद्ध थी। उसी के प्रताप से वह युद्ध के अन्त में कई दिन तक तालाब में छिपे बैठे रहे थे। यह ऐतिहासिक उपमा कविता में आकर कितनी चमत्कृत हो गई है। कोई विरहिणी कहती है—

हे लाल! दुर्योधन के समान तुम भी कुछ जलस्तम्भन-विधि जानते हो, तभी तो विरह-व्यथा-जल के स्पर्श से बचे रह कर मेरे हृदय-सरोवर में (आराम से) बैठे हो? हृदय में रहते हो पर उसमें भरे विरह-व्यथा के जल का—विरह-व्यथा का तुम्हें स्पर्श भी नहीं होता, बड़े बेपीर हो (चिकने घड़े हो)।

बसि संकोच दस-बदन-बस साँच दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनि की ज्वाल॥

रामायण की प्रसिद्ध घटना 'अग्नि परीक्षा' का उल्लेख इस

दोहे में कितनी उत्तमता से किया है। विवश होकर सीताजी को रावण के यहाँ रहना पड़ा था। वहाँ से छुटकारा पाने पर उन्होंने अपने सत्य की परीक्षा अग्नि में प्रवेश करके दी थी। यहाँ संकोच (लज्जा-संचारी) प्रियदर्शन में बाधक होने से रावण है, लगन— दृढ़ प्रेम, अग्नि है। सोधना—उत्कंठा-पूर्वक स्मरण करना (सोधित पर श्लिष्ट है—देह शुद्ध करना और स्मरण करना)—तनुशोधन है।

अर्थात् उसे संकोच ने ही अब तक तुमसे नहीं मिलने दिया, संकोच ही मिलने में बाधक था, प्रेम का अभाव नहीं। उसका तुम में अविचल सच्चा प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगन की अग्नि में बैठकर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है। सन्देह छोड़कर उसे अंगीकार करो।

नीति-निपुणता

दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यों न बढ़ै दुख दंद।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि चंद॥

जब 'दुअमली' होती है—प्रजा पर दुहरे शासकों का शासन होता है—तो प्रजा के दुःख बेतरह बढ़ जाते हैं, संसार के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फ़कीर एक गुदड़ी में गुज़ारा कर लेते हैं, पर दो राजा एक 'रज़ाई' में नहीं रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कहीं दुर्भाग्य-वश ऐसा हुआ है, प्रजा पर विपत्ति के बादल छा गए हैं। प्रजापीड़न पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

बिहारी ने यह बात एक ऐसे दृष्टान्त से समझाई है जिसे सदा

सब कोई देखते हैं, पर नहीं समझते कि क्या बात है। अमा-वस के दिन अंधकार के आधिक्य का क्या कारण है? यही दुअमली। उस दिन आकाश के दो शासक—सूर्य और चन्द्र—एक राशि में इकट्ठे होते हैं, जिससे संसार में आदर्श अंधकार छा जाता है।

सवैया

एक रजाई समै प्रभु ह्वै सु तमोगुन को बहुभाँति बढ़ावत।
होत महा दुख दुन्द प्रजान को और सबै सुभ काज थकावत॥
"कृष्ण" कहै दिननाथ निसाकर एक ही मंडल में जब आवत।
देखौ प्रतच्छ अमावस को अँधियारो कितौ जग में सरसावत॥

(कृष्ण कवि)

कहैं इहै श्रुति सुम्रति सब यहै सयाने लोग।
दीन दबावत निसक ही राजा पातक रोग॥

श्रुति, स्मृति और सयाने—नीति-निपुण लोगों की नीति, सब इसमें एक स्वर से सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग, ये तीन 'निसक'—निःशक्त—निर्बल को ही दबाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं। ज्ञानाग्नि की प्रचंड ज्वाला, उनके पातक-पुंज को तृण-समूह की तरह भस्म कर डालती है। जिन पातकों का ज्ञानहीन मनुष्य के लिए प्राणान्त प्रायश्चित्त बतलाया है, प्रचंड-ज्ञानी (प्रबल शासक जाति के समान) उससे एकदम बरी समझे गए हैं। मतलब यह कि ज्ञान-बलहीन को पातक दबाते हैं। देह-बलहीन को रोग दबाते हैं और पराक्रम-हीन—शासन-बल

रहित—जाति को राजा दबाते हैं। संसार का इतिहास इसमें साक्षी है।

सर्वो बलवतां धर्मः, सर्वं बलवतां स्वकम्।
सर्वं बलवतां पथ्यं, सर्वं बलवतां शुचि ॥ (महाभारत)

❀ ❀ ❀

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि छाँड़िए खोटे ग्रह जप दान ॥

संसार में सीधे, सच्चे और भले आदमी का गुज़ारा नहीं, उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपंची की सब जगह पूजा होती है। पर-पीड़न में जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है। जिसने छल-बल से दूसरों को दबा कर अपनी धाक बिठाली—सिक्का जमा लिया उसी का लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे एक कोने में पड़े सड़ते रहते हैं, उनकी ओर कोई आँख उठा कर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं (शनैश्चरादि) जिनसे किसी को हानि पहुँच सकती है—उन्हीं के नाम पर जप और दान किया जाता है। भले को भला कह कर छोड़ देते हैं। अजी यह तो स्वभाव ही से साधु हैं, माधो के लेने में न ऊधो के देने में।

दार्शनिक तत्त्व

मैं समुझ्यो निरधार—यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ ॥

'अध्यात्मवाद' और 'विवर्त्तवाद' के समान 'प्रतिबिम्बवाद'

वेदांत शास्त्र का एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठे में कवि ने वेदांत के 'प्रतिबिम्बवाद' को कविता के साँचे में डाल कर कितना कमनीय रूप दे दिया है। संसार की असारता दिखाने के लिए काँच का दृष्टान्त यहाँ कैसा चमक रहा है, इसमें संसार की असारता किस प्रकार झलक रही है।

इस दृश्य प्रपंच के वेदान्तमतानुसार ये पाँच अंश हैं।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।

आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ (पंचदशी)

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पाँच अंश हैं। इनमें पहिले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय, अंश ब्रह्म का रूप हैं और पिछले दो—नाम और रूप, जगत् का स्वरूप हैं। प्रत्येक पदार्थ में सत्ता, प्रकाश और प्रेमास्पदता ब्रह्म का रूप है, जो सत्य है। घटपटादि नाम और आकार, संसार का रूप है और यही मिथ्या है।

यह जगत् काँच के शीशे की तरह कच्चा—क्षणभंगुर है। ज्ञान की जरा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है। प्रतिबिम्ब-ग्राही होने से एक ब्रह्म प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है, यह सब उसी का विराट् रूप है, जो देख रहे हो। नाना भाव की पार्थक्य प्रतीति का कारण नाम, रूप मिथ्या है।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किञ्चन", इन्द्रो-मायाभिः पुरुरूप ईयते।"

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

इत्यादि, शतशः श्रुतियाँ इस बात का प्रतिपादन डंके की चोट कर रही हैं।

> अज्यौं तरर्यौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अंग।
> नाकवास बेसर लह्यो बसि मुक्तन के संग॥

संसार-सागर से पार होने के लिए जीवन्मुक्त पुरुषों की संगति भी एक मुख्य उपाय है। यही बात इस दोहे में एक मनोहर श्लेष में लपेट कर एक निराले ढङ्ग से कही गई है। 'तरयौना' कान के एक आभूषण का नाम है जिसे तरकी या ढेढ़ी भी कहते हैं। 'बेसर' नाम का प्रसिद्ध भूषण (नथ) है। इस दोहे में कवि ने श्लेष के बल से बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखाया है। कहते हैं कि श्रुति (कान) रूप एक अङ्ग का सेवन करने वाला तरौना अब तक 'तरयौना' ही है और 'मुक्तनि के संग बसि' मोतियों के साथ रहकर 'बेसर' ने नाकवास प्राप्त कर लिया—नाक में स्थान पा लिया। इसका दूसरा प्रतीयमान अर्थ है—कोई किसी मुमुक्षु से कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की संगति करो, श्रुति सेवा भी एक संसार तरणोपाय है सही, किन्तु इससे शीघ्र ही नहीं तरोगे; देखो यह कान का तरौना श्रुतिरूप एक अंग का कब से सेवन कर रहा है, पर अब तक 'तरयौना ही रह्यौ'—तरा नहीं तरौना ही बना है। और बेसर ने 'मुक्तनि के संग बसि' मुक्तों की संगति पाकर 'नाकवास लह्यौ'—वैकुण्ठ—सालोक्य मुक्ति—प्राप्त कर ली।

अथवा कोई किसी केवल श्रुति-सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अब तक नहीं तरे—

विचार-तरङ्गों में गोते खा रहे हो, और वह देखो अमुक व्यक्ति ने मुक्तों की सत्संगति से 'वेसर' अनुपम—नाकवास-वैकुण्ठ प्राप्ति—सायुज्यमुक्ति प्राप्त कर ली। दोहे के तरयौना, श्रुति, अंग, नाक, वेसर, मुक्तनि ये सब पद श्लिष्ट हैं।

संगति की महिमा से ग्रन्थ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भगवद्भक्तों की सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कारजनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारी अपने कविता-प्रेमियों की नब्ज़ पहचानते हैं, वे जानते हैं कि 'अपने बावले' को किस प्रकार समझाया जाता है। रस-लोलुप कविता-प्रेमी सत्संगति की महिमा किस रूप में सुनना पसन्द करेंगे। रात-दिन जो चीजें प्रेमियों की दृष्टि में समाई रहती हैं, उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कवि के लिए यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक-रोगी कब कान देता है? सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमी को विषयासक्ति का दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो उसके लिए किसी पतित भक्त या योग-भ्रष्ट ज्ञानी का दृष्टान्त देने को वह इतिहास के पन्ने पलटने नहीं बैठता। वह उस विषयी की दृष्टि में बसी हुई चीज को सामने दिखाकर झटपट बोल उठता है कि देखो, विषयासक्ति की दुरन्तता।

जोग जुक्ति सिखाईं सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥

इस दोहे में योगदत्त कानन-सेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थ की समाधि (प्रतीति) है। जिस प्रकार किसी सद्गुरु महामुनि से योग की दीक्षा पाकर कोई प्रधान पुरुष प्रिय परम-प्रेमास्पद ब्रह्म से अद्वैत-अभेद—चाहता हुआ? कानन—वन का सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनी के नयन, महामुनि मदन से योगयुक्ति—प्रिय संगम की युक्ति—सीखकर कानों का सेवन कर रहे हैं।

योग, अद्वैतता, कानन पद श्लिष्ट हैं। 'योगः संहननोपाय ध्यान संगतियुक्तिषु' के अनुसार मुनि के पक्ष में योग का अर्थ ध्यान है। नेत्र के पक्ष में संगति।

> बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ।
> सूछम कटि पर-ब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ॥

इस दोहे में कवि ने परम सूक्ष्म कटि को अलख परब्रह्म की उपमा देकर कौतूहलजनक कमाल किया है। पूर्वार्ध में ब्रह्म-दर्शन के उपायों का निर्देश करनेवाली एक सुप्रसिद्ध 'श्रुति' को किस मार्मिकता से निराले ढङ्ग पर व्यक्त किया है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः"

श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के सम्बन्ध में सुना, अनुमान द्वारा उसके सच्चिदानन्द स्वरूप को जाना, निरन्तर ध्यान द्वारा किसी प्रकार इस तत्त्व को बुद्धि में ठहराया। फिर भी ब्रह्म, ऐसा अलक्ष्य (अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता।

'कटि' (कामिनी की कमर) भी कुछ ऐसे ही सूक्ष्म और अलक्ष्य है। श्रुति—शब्द प्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—

'सनम ! सुनते हैं तेरे भी कमर है'—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है तो यह शरीरप्रपंच—स्तन-शैल, मुखचन्द्र आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं। 'ब्रह्म' नहीं है तो यह विश्व प्रपंच—हिमालयादि-पर्वत, चन्द्रादि ग्रह-मंडल किसमें स्थित हैं—कल्पित हैं। इसीलिए कटि—ब्रह्म अवश्य है। इस तत्त्व को—कटि ब्रह्म के सत्तास्वरूप को—निरन्तर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धि में ठहराते हैं। फिर भी 'अलख लखी नहिं जाइ' उसका साक्षात्कार नहीं होता। नज़र नहीं आती, दिखलाई नहीं देती—'कहाँ है, किस तरफ़ को है, किधर है', यही कहते रह जाते हैं।

सूछम कटि परब्रह्म सी अलख लखी नहिं जाय।

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है। परब्रह्म उपमान। कटि उपमेय। *लखी नहिं जाय, साधारण धर्म। 'सी या लौं' वाचक।* देखा वाचक! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है।

हिन्दी-संसार के सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वश्यवाक् वर्तमान कविराज श्रीयुत् पण्डित नाथूराम शङ्करजी शर्मा 'शङ्कर' ने भी दार्शनिक कविता के रूप में अनोखे ढङ्ग पर 'कमर की अकथ कहानी' कही है। कटि का चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है।

घनाक्षरी

पास के गये पै एक बूँद हू न हाथ लगै,
दूर सों दिखात मृगतृष्णिका में पानी है।
"शङ्कर" प्रमाण-सिद्ध रंग को न संग पर,
जान पड़े अम्बर में नीलिमा समानी है॥

भाव में अभाव है अभाव में धौं भाव भरयो,
कौन कहे ठीक बात काहू ने न जानी है।
जैसे इन दोउन ते दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरी कमर की अकथ कहानी है॥

जनाब 'अकबर' ने भी अपने खास रंग में कमर की कायनात बयान करने में कमाल किया है। क्या खूब फ़र्माया है।

कहीं देखा न हस्ती जो अदम का इश्तराक ऐसा।
जहाँ में मिस्ल रखती ही नहीं उनकी 'कमर' अपना॥
जो पूछा नेस्ती हस्ती में क्यों कर फ़र्क ज़ाहिर हो।
'कमर' ने यार की ईमा किया मैं हद्दे-फ़ासिल हूँ॥

❀ ❀ ❀

जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिए आँखि न देखी जाहिं॥

यह सब जगत् (जिसकी सत्ता से स्थित और) जिसके प्रकाश से प्रतिभासित हो रहा है, अपनी माया रचकर जो हमें दिखा रहा है, वह स्वयं 'अज्ञेय' है, नहीं जाना जाता, नहीं दीख पड़ता। आँख से सब कुछ देखा जाता है, सबको आँख से देख सकते हैं पर स्वयं आँख (अपने आपको) नहीं दीखती। आँख को आँख से नहीं देख पाते।

कितने पते की बात कही है, कैसा सुन्दर दृष्टान्त है। यह जितना सहज और सरल है उतना ही निगूढ़ दार्शनिक रहस्य इसमें छिपा है। इसकी व्याख्या में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

भक्ति मार्ग

विहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे उसी प्रकार भक्ति-पन्थ के प्रवीण पथिक थे। इसके भी दो-चार दोहे सुन लीजिए। कैसे नावक के तीर हैं—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाय।
तरु संसार पयोधि कौं, हरि नामैं करि नाव॥

कैसा अच्छा रूपक वाँधा है, और कितनी सच्ची वात कही है। हरि नाम को नाव वना और जपमाला की पतवार पकड़—वस इस संसार-समुद्र को तर जा, और कोई उपाय पार उतरने का नहीं है।

तौ लगि या मन-सदन में, हरि आवहिं किहि वाट।
निपट विकट जव लगि जुटे, खुलहिं न कपट-कपाट॥

कितनी मनोहर रचना है, कर्ण-कटु टँकार की वहार इस जगह कितनी श्रुति-मधुर मालूम दे रही है। कपटी भक्त को क्या फटकार वतलाई है।

जव तक कपट के विकट किवाड़ जुटे हैं, तव तक मनरूपी मन्दिर में हरि किस रास्ते से आवें? जरा सोचो तो, लोहे के फाटक से मकान को मजवूती के साथ वन्द कर रक्खा है और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अन्दर पहुँच कर तुम्हें कृतार्थ करे।

जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे राम॥

इस दोहे के दण्ड-प्रहार से भण्ड-भक्ति का भाँडा फोड़ दिया है।

> दूरि भजत प्रभु पीठ दै, गुन विस्तारन काल।
> प्रगटत निरगुन निकट ही, चङ्ग रङ्ग गोपाल॥

विलकुल नई बात कही है। साकार या सगुण के उपासक, निराकार या निर्गुण के उपासकों पर ताना मारा करते हैं कि निर्गुण की उपासना हो ही नहीं सकती। विहारी कहते हैं कि गुण विस्तार करने के—सगुण रूप के उपासक के—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते हैं।

उसके गुण अनन्त हैं, कोई पार नहीं पा सकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागर में ढूँढ़ता है, कोई वैकुण्ठ में खोजता है, कोई कैलास पर, और कोई कहीं। निर्गुणोपासना में वह पास ही प्रकट हो जाता है, जहाँ ध्यान करो वहीं उसकी प्राप्ति सुलभ है। चंग की—पतङ्ग की—डोरी को जितना ही बढ़ाओ उतना ही पतङ्ग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पास ही आ पड़ता है। 'चंग रंग' की तरह कोई इसका अर्थ यह भी कहते हैं—गुण—विस्तार काल में—सत्व रजस्तमो लक्षण गुणवत् पुरुषों से वह (ईश्वर) दूर रहता है, और जो निर्गुण हैं गुणातीत हैं—उनके निकट में ही प्रकट हो जाता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

> गुणानेतानतीत्यत्रीन् देही देह समुद्भवान्।
> जन्म-मृत्यु-जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

पर इस अर्थ में चंग रंग की संगति बिगड़ जाती है।

थोरेई गुन रीझते विसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भये आज काल के दानि॥

बड़ी शोखी है। 'दान' कहते हैं नट के 'ढोलिया' को। नट बढ़िया से बढ़िया तमाशा दिखाता है—जान पर खेल कर एक से एक-कठिन कला करके दिखाता है—पर ढोलिया ढोल पर डंका मारकर बराबर यही कहता रहता है कि 'यह कला भी नहीं बदी, यह भी नहीं बदी।'

भक्त ईश्वर से कहता है कि पहले तुम थोड़े से गुण पर रीझ जाते थे—झूठ-मूठ भी किसी के मुँह से तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका बेड़ा पार लगा दिया; पर अब हम नाना प्रकार की भक्ति से—अपने में अनेक सद्गुण सम्पादन करके तुम्हें रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते। मालूम होता है कि तुम भी 'नट के ढोलिया' बन गए हो। हमारी प्रत्येक प्रार्थना उपासना, भक्ति और सत्कर्म पर 'यह भी नहीं बदा' कह कर उपेक्षा कर रहे हो।

अथवा आजकल के दानी जिस तरह दानपात्र (याचक) में सौ मीन-मेख निकाल कर—तुम में यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इसलिए हमारी सहायता के तुम पात्र नहीं हो, इत्यादि बहाना करके—दानपात्र को कोरा टाल देते हैं, ऐसा ही वर्त्ताव तुम अपने दीन भक्तों के साथ करने लगे हो।

कबको टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु जगनायक जगबाय॥

संसार बड़ा स्वार्थी है। यहाँ कोई दीन-दुखी के करुण क्रंदन पर कान नहीं देता। इसी संसार की हवा, मालूम होता है, 'हे जगत्-गुरु, जगनायक स्याम ! तुम्हें भी लग गई। तभी इतने बेपीर हो गये हो।'

ललित कलाएँ और काव्य

(डा० श्यामसुन्दरदास)

सृष्टि की उपयोगिता और सुन्दरता:—

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह सम्भव है कि बहुत-सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों, पर ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौंदर्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुन्दरता पाते हैं। एक झोंपड़ी को लीजिए। वह शीत

से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोंपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोंपड़ी सुन्दरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ ही साथ उसमें सुन्दरता भी आ जाती है।

कला और उसके विभाग—

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है उसकी 'कला' संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्त्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुन्दर भी हो, परन्तु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी हैं;

अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होने में सन्देह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिए मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किये उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोग अपनी २ सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुन्दरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सब का मन एक-सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधार—

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्त्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा

तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य-काव्य कानों के द्वारा। पहली कला में किसी मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतना ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है, और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिये तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनन्तर दूसरा स्थान मूर्त्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त्त ही होता है, परन्तु मूर्त्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है, जो इस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्त्ति-कला के अनन्तर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त्त अर्थात् साकार पदार्थ में लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात भवन-निर्माण-कर्त्ता और मूर्त्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है, परन्तु चित्रकार को अपने चित्रपट

के लिए लम्बाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों मूर्त्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न-भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्यकला का है। उसमें मूर्त्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नादरूप मूर्त्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित कलाओं के आधार-तत्त्वः—

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे ललित कलाओं के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेंद्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा कर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन वाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के सम्बन्ध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त्त आधार; (२) वह साधन जिसके

द्वारा यह आधार गोचर होता है; और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला:—

वास्तु-कला में मूर्त्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं, ये सब पदार्थ मूर्त्त हैं। अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप-रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिछाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मन्दिर, मस्जिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न-भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के

अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज, मिहरावें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु इस कला में मूर्त्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनन्दित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के निदर्शक हों, चाहे न हों, अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हों या न हों।

मूर्त्ति-कला:--

मूर्त्ति-कला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्त्तिकार काट-छांटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्त्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्हित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिए वास्तुकार से मूर्त्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्त्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में जीवधारियों की प्रतिछाया बड़ी कुशलता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि

मूर्त्तकला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता को प्रकाशित करना है।

चित्रकला :—

चित्रकला का आधार कपड़े, काग़ज़, लकड़ी आदि का चित्र-पट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश या कलम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्त्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिए अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रुश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु-सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्त्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अंगों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किन्तु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या

दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिए अपना ब्रुश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र-सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के सम्बन्ध में विचार किया गया जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्त्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत-कला :—

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं। वे ही संगीत-कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संयोजक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि इसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है

और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है; शान्त रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शान्ति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न-भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव *कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है;* उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचण्ड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुन कर उन्हें पहचान लें तो यह बात संगीत-कला के बाहर है। सङ्गीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो पाई। सङ्गीत हमारे मन को अपनी इच्छानुसार चञ्चल कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्त्ति और चित्रकला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यन्त आवश्यक

है। वह यह कि सङ्गीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

काव्य-कला:—

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका कोई मूर्त्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिए किसी दूसरे साधन के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और इन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

ललित कलाओं का ज्ञान:—

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जागृत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों

का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से, और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बग़ीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस समय जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है उन सब का, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुन्दर बग़ीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था, अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बग़ीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का सम्मिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आन्तरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका सम्बन्ध मेरे पूर्वसंचित अनुभवों या मेरी कल्पना-शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यन्त अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलम्बित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना-शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने-अपने अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियन्त्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के

रूप में हों, चाहे मूर्त्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सबसे सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव-हृदय पर अपना प्रभाव जमाये रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।

काव्य-कला की विशेषता:—

हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके हैं कि किस ललित कला में कितना मूर्त्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से स्पष्ट है कि काव्य-कला को छोड़ कर शेष चारों ललित कलाएँ बाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला आन्तरिक ज्ञान पर पूर्णतया अवलम्बित रहती है। अतएव काव्य का सम्बन्ध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण देकर इस भाव को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अंकित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब उस चित्र में मुझे देखने को मिलता। मैं उस चित्र में सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट,

सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफ़सरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब मैं उस चित्र में देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित हो कर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का विवरण मेरे सम्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजय-कामना से कैसी रणनीति का अवलम्बन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ और अन्त में उस युद्ध ने लड़नेवाली दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भविष्य-जीवन पर क्या प्रभाव डाला ? परन्तु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदयग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक मुझे पूरा-पूरा प्रभावित करता है जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव

मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परन्तु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरण-शक्ति से उसे अपने अन्तःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण यही है कि चित्र में मूर्त्त आधार वर्तमान है और बाह्य ज्ञान पर अवलम्बित है, परन्तु साहित्य में मूर्त्त आधार का अभाव है और वह अन्तर्ज्ञान पर अवलम्बित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि, 'मैंने लड़ाई देखी' पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि 'मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया' या 'उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।'

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भंडार कह सकते हैं जो अनन्त काल से भरता आता है और निरन्तर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उस सबका बहुत कुछ अंश इसमें भरा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन के लिए यह भण्डार कितना प्रयोजनीय है।

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्त्व:—

मनुष्य के काव्य रूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बड़े महत्त्व की वस्तु हैं। बिना उनके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें न होतीं तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कविकुल-

चूड़ामणि कालिदास; भवभूति, भारवि, भगवान् बुद्धदेव, मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र आदि से कैसे बातचीत करते, उनके कीर्त्ति-कलाप का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरणों से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत और महत्त्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते।

काव्य का महत्त्वः—

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त्त संसार का बाह्य-ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनन्द प्राप्त करें तथा उसके मर्म को समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त्त, बाह्य रूप को पूरा-पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अन्तर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अन्तःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को, अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और इसी रक्षित भण्डार की सहायता से वह नष्ट अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जातिविशेष का मस्तिष्क या अन्तःकरण है जो उसके पूर्व-अनुभव, भावना, विचार-कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव

प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेन्द्रियों के सब सन्देश बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य के बिना, पूर्व-संचित ज्ञान-भण्डार के बिना, मानव-जीवन पशु-जीवन के समान होता है। उसमें वह विशेषता ही न रह जाती जिसके कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

काव्य-पद्धति और हिन्दी का श्रेष्ठ कवि

(ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल !)

काव्य के दो स्वरूप देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत तथा अतिरंजित या प्रगीत। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योगक्षेम के संबन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं, जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया हुआ केवल कौतुक ही नहीं रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु-वर्णन तथा भावव्यंजना दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नहीं दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्णकमलों से कलित सुधा-सरोवर के फूलों पर मलयानिल-स्पंदित पाटलों के बीच विचरती है, कभी मरकत-भूमि पर खड़े मुक्ता-खचित प्रवाल-भवनों में पुष्पराग और नील मणि के स्तंभों के बीच हीरे के सिंहासनों पर जा टिकती है, कभी सायं-प्रभात के कनक-मेखला-मंडित विविध वर्णमय घन-पटलों के पर्दे डालकर विकीर्ण तारक-सिकता-कणों के बीच बहती आकाश-गङ्गा में अवगाहन करती है। इसी प्रकार की कुछ रूपयोजनाएँ प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक हो गई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से सम्बन्ध रखती हैं! जैसे सुमेरु पर्वत, सूर्य्य-चन्द्र के पहियोंवाला रथ, समुद्र-मंथन, समुद्र-लंघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाश-मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत हम नहीं लेंगे।

काव्य में उपर्युक्त ढङ्ग की रूप-व्यापार योजना प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों में पाई जाती है। कुछ कवियों का झुकाव दोनों पक्षों में अलौकिक या अतिरंजित की ओर रहता है और कुछ का केवल अप्रस्तुत पक्ष में। जैसे :—

'मखतूल के झूल झुलावत केशव
भानु मनो शनि अंक लिये।'

भावव्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक—विशेषतः शृंगार या प्रेम संबंधी—पद्यों में पाया जाता है। कहीं विरहताप से सुलगते हुए शरीर से उठे हुए धुए के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है, कौवे काले हो जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोंपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् को डुबाने वाले अश्रुप्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भस्मीभूत शरीर की राख का एक-एक कण वायु के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है; कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल-दलों की खाड़ी में ढकेल देता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी के श्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत-स्वरूप की ओर नहीं थी। गीतावली गीतकाव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है। यह बात आगे के प्रसंगों में उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगी। केवल दो-एक स्थान पर उन्होंने कवियों की अतिरंजित उक्तियों का अनुकरण किया है। जैसे, सीताजी के विरहताप के इस वर्णन में जो हनुमान राम से कहते हैं—

जेहि वाटिका बसत तहँ खग मृग तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास समीर भेंट भई भोरेहु तेहि मग पग न धर्यो तिहु पौन॥

पर ये दोनों पंक्तियाँ ऐसी हैं कि यदि तुलसी के सामान्य पाठकों को सुनाई जाएँ तो वे उन्हें तुलसी की न समझेंगे। तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी की दृष्टि वास्तविक जीवन दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्‌घाटन की ओर थी। काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं। ऊपर जो बात कही गई है उसका अर्थ कलावादी लोगों के निकट यह होगा कि तुलसीदास नूतन सृष्टि-निर्माण करनेवाले कवि नहीं थे। ऐसे लोगों के गुरुओं का कहना है कि ज्ञात जगत् परिमित है और मन (या अंतःकरण विशिष्टात्मा) का विस्तार असीम और अपरिमित है; अतः पूर्ण कविता वही है जो वास्तविक जगत् या जीवन में बद्ध न रहकर, वस्तु और अनुभूति दोनों के लोकातीत स्वरूप दिखाया करे। कल्पना के इन 'विश्वमित्रों' से, योरुप भी कुछ दिन चिन्तातुर रहा। 'कलावादी' जिसे 'नूतन-सृष्टि' कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप-मात्र है। ऐसा विकृत रूप जो प्राय: कुतूहल-मात्र उत्पन्न करके रह जाता है, हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची और गंभीर अनुभूति नहीं जगाता। तुलसी की गंभीर वाणी, शब्दों की कलाबाज़ी, उपयुक्तियों की झूठी तड़क-भड़क आदि खेलवाड़ों में भी नहीं उलझी है; वह श्रोताओं या पाठकों को ऐसी भूमियों पर ले जाकर खड़ा करने में ही अग्रसर है और रहती आई है, जहाँ से जीते-जागते जगत् की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्ति की झाँकी मिल सकती है। गोस्वामीजी का उद्देश्य लोक के बीच प्रतिष्ठित

रामत्व में लीन करना है; कुतूहल या मनोरंजन की सामग्री एकत्र करना नहीं। 'श्लेष', 'यमक', 'परिसंख्या' इत्यादि कोरे चमत्कारविधायक अलंकार रखने के लिए ही उन्होंने कहीं रचना नहीं की थी। इन अलंकारों का प्रयोग ही उन्होंने दो ही चार जगह किया है। वे चमत्कारवादी नहीं थे। 'दोहावली' में कुछ दोहों की दुरूहता का कारण उनकी चमत्कार-प्रियता नहीं, समासपद्धति का अवलम्बन है, जिसमें अर्थ का कुछ आरोप ऊपर से करना पड़ता है। जैसे यह दोहा लीजिए।

उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।
प्रीति परीच्छा तिहुँन की, वैर वितिक्रम जानि॥

जो इस संस्कृतश्लोक का अनुवाद है।

"उत्कृष्टमध्यमनिकृष्टजनेषु मैत्री,
यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा।
वैरं निकृष्टमपि मध्यम उत्तमे च,
यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा॥"

श्लोक के भाव को थोड़े में व्यक्त करने के लिए उत्तम, मध्यम, निकृष्ट को फिर उलटे क्रम से न रखकर 'वितिक्रम' शब्द से काम चलाया गया है। 'रेखा' शब्द न लाने से अर्थ पूर्णतया लुप्त हो गया है। अनुवाद की यह असफलता समास या चुस्ती के प्रयास के कारण हुई है। नहीं तो गोस्वामी जी के समान संस्कृत उक्तियों का अनुवाद करने वाला हिंदी का दूसरा कवि नहीं। दोहावली में जितने क्लिष्ट दोहे हैं उनकी क्लिष्टता का कारण यही समासशैली है। अनुकरण मनुष्य

के स्वभाव के अन्तर्गत है। गोस्वामीजी ने जैसे सब प्रकार की प्रचलित पद्यशैलियों या छंदों में रचना की है वैसे ही कहीं दो-एक जगह कूट और आलंकारिक चमत्कार आदि का भी कौशल दिखा दिया है जिसके उदाहरण 'दोहावली' में मिलेंगे। बात यह है कि 'दोहावली' में गोस्वामी जी कवि और सूत्रकार, इन दोनों रूपों में विराजमान हैं। भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करनेवाले दोहे तो 'काव्य' के अन्तर्गत लिए जायंगे, पर नीति के दोहे 'सूक्ति' की श्रेणी में स्थान पाएँगे।

'दोहावली' के समान 'रामचरितमानस' में भी गोस्वामी-जी कवि के रूप में ही नहीं धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। 'मानस' के काव्यत्व का तो कहना ही क्या है। उसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा, परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है, जैसा लोकाभिराम राम का चरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा, संस्कृत और हिंदी दोनों में, उसके प्रकाश के लिए मिली। इस काल में तो 'रामचरित-मानस' हिंदू-जीवन और हिंदू-संस्कृति का सहारा हो गया है। भारतवर्ष के जिस कोने में लोग, इस ग्रंथ को पूरा-पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा-बहुत जितना समझ पाते हैं उतने के ही लिए इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं, पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही

है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के मानस का अधिकार इतने ही में समझा जा सकता है।

इसी ग्रंथ से जनसाधारण की नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनन्दोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल—सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है।

जिस धूम-धाम से इस ग्रंथ की प्रस्तावना उठती है उसे देखते ही इसके महत्त्व का आभास मिलने लगता है। ऐसे दृष्टिविस्तार के साथ, जगत् की ऐसी गम्भीर समीक्षा के साथ और किसी ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं लिखी गई है। रामायणियों में प्रसिद्ध है कि 'बाल' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अन्त की गम्भीरता की थाह डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-दशा की गणना से देखें तो बालकांड में आनन्दोत्सव अपनी हद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है; 'अरण्य', 'किष्किंधा' और 'सुन्दर' कर्म और उद्योग का पक्ष प्रतिबिंबित करते हैं तथा 'लंका' और 'उत्तर' में कर्म की चरम सीमा, विजय और विभूति का चित्र दिखाई देता है। जैसा कि कहा जा चुका है, 'मानस' में तुलसीदास जी धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में माने जाते हैं! इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत-से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं, जैसे पातिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश, उत्तरकांड में गरुड़पुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल कथन—

हरि गुरु निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई॥
सुर-श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥
सबकै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥

अब विचारना यह चाहिए कि साहित्य की दृष्टि से ऐसे कोरे उपदेशों का मानस में स्थान क्या होगा? मानस एक प्रबन्ध-काव्य है। प्रबन्ध-काव्य में कवि लोग पात्रों की प्रकृति और शील का चित्रण भी किया करते हैं। 'मानस' में उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाये गये हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रों के शील व्यंजक-मात्र हैं और काव्यप्रबन्ध के अन्तर्गत हैं। पर विचार करने पर यह साफ़ झलक जाता है कि उन उपदेशात्मक वचनों द्वारा कवि का लक्ष्य वक्ता, पात्रों का चरित्र-चित्रण करना नहीं, उपदेश ही देना है। चरित्रचित्रण-मात्र के लिए जो वचन कहलाये जाते हैं उनके यथार्थ-अयथार्थ या संगत-असंगत होने का विचार नहीं किया जाता। पर 'मानस' में आए उपदेश इसी दृष्टि से रखे जान पड़ते हैं कि लोग उन्हें ठीक मानकर उन पर चलें। अतः यही मानना ठीक होगा कि ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कविरूप नहीं, उपदेशक का ही रूप है। हम अब इन कोरे और नीरस उपदेशों को काव्यक्षेत्र के भीतर समझें या बाहर? भीतर समझने के लिए यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि जैसे समूचे प्रबन्ध के रस से बीच-बीच में आए हुए "आगे चले बहुरि रघुराई" ऐसे नीरस पद्य भी रस-वान् हो जाते हैं वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी!

अब रहा यह कि गोस्वामीजी ने "रामचरितमानस" की रचना में वाल्मीकि से भिन्न पथ का जो बहुत जगह अवलंबन किया है वह किस विचार से। पहिली बात तो यह है कि वाल्मीकि ने राम के नरत्व और नारायणत्व, इन दोनों पक्षों में से नरत्व की पूर्णता प्रदर्शित करने के लिए उनके चरित्र का गान किया है। पर गोस्वामीजी ने राम का नारायणत्व लिया है और अपने 'मानस' को भगवद्भक्ति के प्रचार का साधन बनाया है, इससे कहीं-कहीं उन्होंने उनके नरत्वसूचक लक्षणों को दृष्टि के सामने से हटा दिया है। जैसे वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशल्या के पास जाने लगे हैं तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घ निःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है। सीता को अयोध्या में रहने के लिए समझाते समय उन्होंने कहा है कि भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना। इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न रहने की आशंका उन्हें होने लगी है तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि कैकेयी अब सुखी होगी। ऐसे स्थलों पर राम में इस प्रकार का क्षोभ गोस्वामीजी ने नहीं दिखाया है पर साथ ही काव्यत्व की उन्होंने पूरी रक्षा की है, अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। अवसर के अनुसार दुःख, शोक आदि की उनके द्वारा पूरी व्यंजना कराई है। अध्यात्म-रामायण भक्ति-ग्रंथ है। इससे अनेक स्थलों पर उन्होंने उसी का अनुसरण किया है।

पर बहुत कुछ परिवर्तन गोस्वामीजी ने अपने समय की लोकरुचि और साहित्य की रुढ़ि के अनुसार किया है। वाल्मीकि

ने प्रेम का स्फुरण केवल लोककर्त्तव्यों के बीच में ही दिखाया है उससे अलग नहीं। उनकी रामायण में सीता-राम के प्रेम का परिचय हम विवाह के उपरांत ही पाते हैं, पर गोस्वामी जी के बहुत पहले से काव्यों में विवाह के पूर्व नायक-नायिका में प्रेम का प्रादुर्भाव दिखाने की प्रथा प्रतिष्ठित चली आती थी, इसी से उन्होंने भी प्रेमाख्यानी रंग देने के लिए जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का अनुसरण करके धनुषभंग के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का संनिवेश किया है। उन्होंने जनक की वाटिका में राम-सीता का साक्षात् कराके दोनों के हृदय में प्रेम का उदय दिखाया है। पर इस प्रेम-प्रसंग में भी रामकथा के पुनीत स्वरूप में कुछ भी अन्तर न आने पाया। लोकमर्यादा का लेश-मात्र भी अतिक्रमण न हुआ। राम-सीता एक दूसरे का अलौकिक सौन्दर्य देखकर मुग्ध होते हैं। सीता मन ही मन राम को अपना वर बनाने की लालसा करती हैं, उनके ध्यान में मग्न होती हैं; पर "पितु-पन सुमिरि बहुरि मन छोभा"। वे इसका कभी आभास नहीं होने देतीं कि 'पिता चाहे लाख करें मैं राम को छोड़ कर किसी के साथ विवाह न करूँगी।' इसी प्रकार राम भी यह कहीं व्यंजित नहीं करते कि 'धनुष चाहे जो तोड़े, मेरे देखते सीता के साथ कोई विवाह नहीं कर सकता।'

वाल्मीकि ने विवाह हो जाने के उपरांत मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है, पर गोस्वामीजी ने उनका झमेला विवाह होने के पूर्व धनुर्भंग होते ही रखा है। इसे भी रसात्मकता की मात्रा बढ़ाने की काव्ययुक्ति ही समझना चाहिए। वीरगाथा-

काल के पहले ही से वीरकाव्यों की यह परिपाटी चली आती थी कि नायिका को प्राप्त करने के पहले नायक के मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ खड़ी होती थीं जिन्हें नायक अपना अद्भुत कर्म दिखाता हुआ दूर करता था। इससे नायक के व्यक्तित्व का प्रभाव नायिका पर और भी अधिक हो जाता; उस पर वह और भी अधिक मुग्ध हो जाती थी। 'रासो' नाम के वीरप्रचलित काव्यों में वीर नायक अपने विरोधियों को परास्त करने के उपरांत नायिका को ले जाता था। रामचन्द्रजी का तेज और पराक्रम धनुष तोड़ने पर व्यक्त हुआ ही था और सीता पर उनका अनुरागवर्द्धक प्रभाव पड़ा ही था कि परशुराम के कूद पड़ने से प्रभाववृद्धि का दूसरा अवसर निकल आया। परशुराम, ऐसे जगद्विजयी और तेजस्वी का भी तेज राम के सामने फीका पड़ गया। उस समय राम की ओर सीता का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा; राम के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उनके हृदय में घर किया होगा।

गोस्वामी जी ने यद्यपि अपनी रचना "स्वांतःसुखाय" बताई है, पर वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता (Communicability) को बहुत ही आवश्यक मानते थे। किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा प्राप्त नहीं कर सकती; उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए।

मनि मानिक मुक्ता छबि जैसी ।
अहि, गिरि, गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई ।
लहिहि सकल शोभा अधिकाई ॥
तैसई सुकवि-कवित बुध कहहीं ।
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ॥

आजकल सब बातें विलायती दृष्टि से देखी जाती हैं। अतः यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुभूति-निरूपिणी है अथवा वाह्यार्थ-निरूपिणी। 'रामचरितमानस' के संबंध में तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबंधकाव्य या महाकाव्य है । प्रबंधकाव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है। शेष ग्रन्थों में से गीतावली यद्यपि गीति-काव्य है, फिर भी वह आदि से अन्त तक कथा ही को लेकर चली है । उसमें या तो वस्तुव्यापार-वर्णन है या पात्रों के मुँह से भाव-व्यंजना । अतः वह भी वाह्यार्थ-निरूपक ही कही जाएगी ।

कवितावली में भी कथाप्रसंगों को लेकर फुटकर पद्यों की रचना की गई है। हाँ, उसके उत्तरकांड में कवि राम की दयालुता, भक्तवत्सलता आदि के साथ-साथ अपनी दीनता, निरवलंवता, कातरता इत्यादि का भी वर्णन करता है । 'विनय-पत्रिका' में अलवत्ता तुलसीदास जी अपनी दशा का निवेदन करने वैठते हैं । उस ग्रन्थ में जगह-जगह अपनी प्रतीति, अपनी भावना और अपनी अनुभूति स्पष्ट 'अपनी' कहकर प्रकट करते हैं; जैसे—

(क) संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जर जीह गरो।
अपनो भलो राम नाम ही ते तुलसिहि समुझि परो॥
(ख) बहुमत सुन बहुपंथ पुरातनि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥
(ग) को जाने को जैयहि जमपुर, को सुरपुर, पुरधाम को।
तुलसिहिं बहु भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥

इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो। 'विनय' में केवल कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या करालता का उन्होंने वर्णन किया है यह उन्हीं की नहीं है, समस्त लोक की है। इस प्रकार जिस दीनता, निर्बलता, दोषपूर्णता या पापमग्नता की भावना की उन्होंने व्यंजना की है वह भी भक्त-मात्र के हृदय की सामान्य वृत्ति है। वह और सब भक्तों की अनुभूति से अविच्छिन्न नहीं, उसमें कोई व्यक्तिगत वैलक्षण्य नहीं। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि 'स्वानुभूति-निरूपक' और 'बाह्यार्थ-निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है। कवि अपने से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है उन्हें भी वह आप जिस रूप में अनुभव करता है, उसी रूप में रखता है। अतः वह भी उसकी स्वानुभूति ही हुई। दूसरी ओर जिसे वह स्वानुभूति कहकर प्रगट करता है वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खाएगी तो एक कौतुक-मात्र होगी, काव्य नहीं। ऐसा काव्य और उसका कवि दोनों तमाशा देखने की चीज ठहरेंगे। जिस अनुभूति की व्यंजना को श्रोता या पाठक

हृदय भी अपनाकर अनुरंजित होगा वह केवल कवि की ही
रह जाएगी, श्रोता या पाठक की भी हो जाएगी। अपने
को और लोगों के हृदयों से सर्वथा विलक्षण प्रकट करने-
। एक संप्रदाय योरुप में रहा है। वहाँ कुछ दिन नकली
ों के कारखाने जारी रहे। पर पीछे उन खिलौनों से लोग
गए।

यह तो स्थिर बात है कि तुलसीदासजी ने वाल्मीकि-
ायण, अध्यात्मरामायण, महारामायण, श्रीमद्भागवत, हनु-
ाटक, प्रसन्नराघव नाटक इत्यादि अनेक ग्रन्थों से रचना की
ग्री ली है। इन ग्रंथों की बहुत-सी उक्तियाँ ज्यों की त्यों
दित करके रखी हैं जैसे वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन
। कुछ भागवत से लिये गए हैं। धनुषयज्ञ के प्रसंग में
ोंने हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटक से बहुत सहायता
है। पर उन्होंने जो संस्कृत-उक्तियाँ ली हैं उन्हें भाषा पर
ने अद्वितीय अधिकार के बल से एकदम मूल हिंदी रचना के
में कर डाला। कहीं से भी संस्कृतपन या वाक्य विन्यास की
ृता नहीं आने दी है। बहुत जगह तो उन्होंने उक्ति को
ाक व्यंजक बनाकर और चमका दिया है। उदाहरण के
हनुमन्नाटक का यह श्लोक लीजिए—

> या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शंकरात्।
> दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥

इसे गोस्वामीजी ने इस रूप में लिया है—

जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन रघुनाथ॥

इस अनुवाद में "दस माथ दिए" के जोड़ में "दरसन हीं तें" न रखने से याचक के बिना प्रयास प्राप्त करने का जोर तो निकल गया पर 'सकुचि' पद लाने से दाता के असीम औदार्य्य की भावना से उक्ति परिपूर्ण हो गई है। 'सकुचि' शब्द की व्यंजना यह है कि इतनी बड़ी संपत्ति भी देते समय राम को बहुत थोड़ी जान पड़ी।

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

नरत्व दुर्लभ है, विद्या-प्राप्ति उससे दुर्लभ है, कवित्व उससे दुर्लभ है, शक्ति उससे भी दुर्लभ है। हमीं नहीं कहते कि 'प्राण-भृत्सु नराः श्रेष्ठाः' अन्य लोग भी कहते हैं कि 'इन्सान अशरफुल-मखलूकात है,' इसीलिए नरत्व दुर्लभ है, नरत्व प्राप्त होने पर विद्वान होना कठिन है। आप लोग स्वयं जानते हैं कि मनुष्यों में कितने वास्तव मे विद्वान् हैं। विद्वानों से उच्च कवित्व अर्थात् कवि का पद है और इसीलिए शायद महात्मा तुलसी-दास कहते हैं 'कवि न होऊँ नहिं चतुर कहाऊँ'। थोड़ा-सी काव्यप्रतिभा पाकर अथवा काव्य रचने में लब्धप्रतिष्ठ होकर किम्वा साहित्य-निर्माण में स्वाभाविक योग्यता लाभकर अनेक विद्वान् न जाने क्या-क्या कह जाते हैं। हमारे पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित्केषांचित्खलु हि विदधीरन्न विमुदम्।
ध्रुवन्ते जीवन्तोप्यहह मृतका मंदमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः॥

शहद, अंगूर, अमृत और कामिनी कुल का अधरामृत कभी किसी को ही आनन्दित करते ह। परन्तु वे मूर्ख तो जीते हुए ही मृतक तुल्य हैं जिन्हें कि पण्डितराज जगन्नाथ की कविता आनन्द न दे।

उर्दू के मशहूर शायर नासिख फ़रमाते हैं—

इक तिफ्ल दबिस्तां है फलातूं मेरे आगे,
क्या मुँह है अरस्तू जो करेचूँ मेरे आगे।
क्या माल भला कसरे फ़रेदूँ मेरे आगे,
काँपे है पड़ा गुम्बदे गरदूँ मेरे आगे। आदि…

परन्तु, कविचक्रचूड़ामणि महामान्य महात्मा तुलसीदास कहते हैं—'कवि न होऊँ,' क्यों ? ऐसा वे क्यों कहते हैं ? इसलिए कि 'जेहि जानि जग जाय हेराई' अथवा 'आरां कि खबर शुद्ध खबरश बाज़ नयामद', वे जानते हैं कि कवि शब्द का क्या महत्त्व है और इसीलिए वे कहते हैं कि मैं कवि नहीं हूँ। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के आविष्कारक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता न्यूटन ने अन्त समय कहा था—"परमात्मा की अलौकिक रचना अगाध उदधि के कूल पर मैं सदा एक बालक की भाँति खेलता रहा। कभी एकाध चमकीले कंकर मेरे हाथ लग गये। किंतु, उसकी महिमा का अगाध समुद्र आज भी बिना छाये हुए पड़ा है।" वास्तव में बात यह है कि अपरिसीम अनंत गगन में उड़नेवाला एक क्षुद्र विहंग उसका क्या पता पा सकता है ? गोस्वामीजी के 'कवि न होऊँ' वाक्य की गंभीर ध्वनि यही है। उन्होंने इस वाक्य द्वारा यह तो प्रकट किया है कि मैं कवि नहीं हूँ। किन्तु, उनके इस वाक्य का गांभीर्य ही यह प्रकट करता है कि वे कितने योग्य कवि थे। हम लोगों को भी उन्हीं का पदानुसरण करना चाहिए। हम लोगों को अपनी समाज-सेवा द्वारा, अपने भावोद्यान के सुमनों द्वारा, अपनी कविता-लता के सौरभित दलों द्वारा मनोराज्य के विपुल विभव

द्वारा, प्रतिभा-भंडार की बहुमूल्य मणि द्वारा हृदय के सरस प्रवाह द्वारा, देश के लिए, जाति के लिए, लोकोपकार के लिए उत्सर्गीकृत जीवन होना चाहिए। जनता आप ही कहेगी कि हम कौन हैं। काम चाहिए, नाम नहीं। 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। एलिज़ाबेथ ब्राउनिंग का कथन है कि 'कवि सौंदर्य का ईश्वर-प्रेरित आचार्य है'। मैथ्यू आर्नल्ड कहते हैं—"जिसके काव्य में मानव-जीवन की गुप्त समस्याएँ प्रतिफलित होती हैं और सौन्दर्य के साथ उन गूढ़ समस्याओं का समन्वय होता है, वही कवि है"। कार्लाईल का वचन है—"कवि और भविष्यवक्ता एक ही प्रकार का मंगल-समाचार सुनाते हैं। जो कवि है वही वीर है। सत्य और काव्य दोनों एक ही वस्तु हैं। काव्य की जीवन-धारा सत्य है। जो कवि है वही सच्चा शिक्षक है।" टेनिसन कहता है—"सिर पर अनेक ताराओं का मुकुट धारण किये सोने के देश में कवि ने जन्म धारण किया था। घृणा की घृणा, उपेक्षा की उपेक्षा और प्रेम का प्रेम यही उसको भेंट में मिला था। उसकी दृष्टि जीवन और मरण के बीच से भले और बुरे के भीतर से होकर दूर तक देखती है।" जो कवि नाम के अधिकारी हैं उनको इन पंक्तियों का अवतार होना चाहिए, अन्यथा कवि कहलाना परमात्मा के पुनीत नाम का अपमान करना है।

———

साहित्य में क्लिष्टता

[श्री० सियारामशरण गुप्त]

साहित्य में प्रसाद गुण की सराहना के मूल में क्लिष्टता का विरोध पाया जाता है। जहाँ किसी तरह की प्रशंसा है, वहीं किसी न किसी तरह की निन्दा भी होगी। निन्दा में एक दुर्गुण है; वह आग की तरह झपटकर आगे बढ़ जाती है, प्रकाश की तरह निज के क्षेत्र में प्रदीप्त नहीं रहना चाहती। क्लिष्टता के विषय में ऐसा ही हुआ है। जहाँ वह उचित स्थान पर है, वहाँ भी वह आज सहन नहीं की जा सकती।

सरलता की चाहना अस्वाभाविक नहीं है। प्रारम्भ से ही मनुष्य की प्रवृत्ति यह रही है कि उसका कार्य सरलता से हो। हथियार उसने इसीलिए बनाये कि आखेट की कठिनाई दूर हो जाय। खेत में उसने अन्न के बीज इसीलिए फेंके कि उसका आहार सुगम हो। घर उसने इसीलिए खड़ा किया कि उसे सरदी, गरमी और बरसात का कष्ट न उठाना पड़े। सब तरह की सरलता पाने के लिए, न जानें उसने कितने कष्ट अब तक झेले हैं। आदिम युग से उसका यह प्रयत्न बराबर चला आ रहा है। इसके लिए वह कितनी क्लिष्टता के बीच में होकर जा रहा है, इसका हिसाब नहीं। यह देखकर कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि क्लिष्टता ही कहीं उसका ध्येय न हो!

यह हो कैसे सकता है ? पथ पर हम चलते हैं, इसलिए वही सब कुछ नहीं हो सकता। वह तो साधन है। बात यह है कि आगे की विश्रामशाला में पहुँचने के लिए ही हम लम्बी-लम्बी घाटियाँ पार करते हैं, बड़ी-बड़ी नदियाँ तैर जाते हैं और अथाह एवं विस्तीर्ण समुद्रों को देखकर भी भयभीत नहीं होते।

संसार में ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो पथ की क्लिष्टता देखकर डर जाते हैं। ऐसे जन बच्चों की जाति के हैं। वे चाहते हैं कि कोई गोद में लेकर सुलाता हुआ ही उन्हें ठीक स्थान पर पहुँचा दे।

किन्तु इस तरह पथ की आवश्यकता नष्ट नहीं होती। पथ क्लिष्ट है, इसी कारण घर भी सुखद, सरल और चाहने योग्य हो सका है। संसार के जितने पथ हैं, यदि वे सब के सब किसी उपाय से, किसी मन्त्र-बल से, घर ही घर हो जायँ, तब ?—जरा हम कल्पना करें, तब क्या हो ? उस समय हमारे घर इतने बड़े जेलखाने हो उठेंगे कि वहाँ से छूटकर भाग बचने का उपाय नहीं रहेगा। वहाँ के सुख की सेज उस समय काँटों की सेज हो उठेगी।

साहित्य के सम्बन्ध में आजकल कुछ ऐसा ही चाहा जा रहा है। हम उसका आनन्द तो लेना चाहते हैं, पर लेना ही लेना चाहते हैं; कुछ देने के लिए तैयार नहीं हैं। लेने के लिए देना पहली शर्त है। इसे पूरा किये बिना जो कुछ मिलता है, वह 'प्राप्ति' नहीं, उसे भिक्षा कहते हैं।

साहित्य के दरबार में हम भाषा के मार्ग से पहुँचते हैं।

मार्ग में कुछ न कुछ कष्ट होगा ही। बचने का उपाय ही क्या ? उपाय यही है कि चला जाय। जो चलना चाहते नहीं और कहते यह हैं कि दरबार सार्वजनिक नहीं, चलनेवालों के ही लिए है; वे किसी तरह नहीं समझेंगे। उनसे निबटने के लिए यही कह देना बस होगा कि आप ठीक कहते हैं।

दरबार सार्वजनिक है, पर पथ उनके लिए है, जो उस पर चल सकते हैं। भाषा और साहित्य का अन्तर वही है, जो पथ और दरबार का है। जिस तरह एक सीमा पर पहुँचकर पथ ही दरबार हो जाता है, उसी तरह एक जगह भाषा ही साहित्य बन जाती है।

भाषा और साहित्य का यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि कभी-कभी भ्रम हो जाता है। एक दूसरे को हम ठीक से समझ नहीं पाते। किसी भाषा में 'किन्तु' की जगह 'मगर' अथवा 'मगर' की जगह 'किन्तु' देखकर ही हम यह कहने लगते हैं कि यह साहित्य सब के लिए नहीं है, क्योंकि यह दुरूह है।

यह वैसी ही हास्यास्पद बात हुई, जैसी कि मूर्त्ति देखकर हम उसे खोटा पत्थर समझ लें। कहें कि कौन था, जिसने इसे इस तरह विगाड़ डाला है ? इसमें कहीं ऊँचाई है और कहीं निचाई और कहीं छोटी-छोटी रेखाएँ, साफ़ सपाटपन तो इसमें एक जगह भी नहीं दिखाई देता। यह न हमारे लेटने के काम आ सकता है और न बैठने के ही।

साहित्य की दुरूहता बहुत कुछ हमारी इसी तरह की है। पत्थर को हम समझ लेते हैं। इसमें हमें श्रम नहीं पड़ता। देखा

और तुरन्त ध्यान में आ गया कि इससे हम अपने शत्रु का सिर चकनाचूर कर सकते हैं, और दूसरा यह हमारे नमक-मिर्च का चूरा करने के उपयुक्त है। पत्थर के साहित्य का यह अंश इतना स्पष्ट है कि जंगली आदमी को भी इसे समझने के लिए कष्ट नहीं करना पड़ा। इस सरलता के लिए पत्थर के निर्माता के प्रति उनके मन में कृतज्ञता का भाव उठा होगा।

अपने प्रारम्भ में भाषा इसी पत्थर की भाँति सुबोध थी। खाने-पीने और उठने-बैठने के काम में उसने सहायता पहुँचाई और उसका काम पूरा हुआ।

यह उसका बचपन था। बचपन की आवश्यकताएँ थोड़ी होती हैं। इसी से थोड़े शब्दों में ही उस समय काम निकल जाता है। कभी अधिक की आवश्यकता होती भी है, तो रोने में, चिल्लाने में, काट खाने में, और बहुत हुआ, तो हँस उठने में हम इसकी पूर्त्ति कर लेते हैं।

बचपन किसी का रहता नहीं है। उसकी सरलता के लिए हम कितना ही विलाप क्यों न करें, आगे के दुरूह पथ में जाकर वह कहाँ जा छिपा है, इसका पता तक हमें नहीं मिलता। एक बात है। वह चला जाता है, इसीलिए उसके प्रति हमारा आकर्षण इतना अधिक है। यदि वह निरन्तर हमारे पास बना रहता, तो हम न जानें कितना उसे कोसते। हमारे मित्रों में अनेक तरुण अब भी ऐसे हैं, जिनके लिए कहा जाता है कि उनका बचपन—अर्थात् उनकी मूर्खता, अब तक गई नहीं।

इसके लिए उन्हें अपने बड़ों से कितना भला-बुरा सुनना पड़ता है, इसकी चर्चा रोचक न होगी।

क्या भाषा का बचपन सदा एकरस बना रहता है? चिर-कुमारी या चिर-विधवा के प्रति हम श्रद्धा या अनुकम्पा का उच्च भाव रख सकते हैं। पर यह होना हमसे कठिन था कि जीवन भर किसी बालिका को गोद में दबाये हुए उसे चूमते-पुचकारते रहते। विशेषकर ऐसी हालत में और भी, जब कि वह गूँगी हो। ऐसी भाषा हमारे किस काम आती? जीवन के जिस पथ पर हम आगे बढ़ते हैं, उसके लिए माता अपेक्षित हो सकती है,—हमें आशीर्वाद देने के लिए। बहिन चाही जा सकती है,—हमें हमारे संकट में रक्षा-सूत्र बाँधने के लिए। और हाँ, प्रेयसी; वह आवश्यक हो सकती है,—हमें अपना पौरुष प्रदीप्त करने के लिए। उस अविकसित बोली के द्वारा इनमें से हमारी किस आकांक्षा की पूर्ति होती? किसी की भी तो नहीं। इसलिए उसका विकास हमारे साथ-साथ होना उचित ही था। नहीं तो उसे भी हम अपने बचपन के गुड्डे-गुड्डियों के साथ या तो तोड़-मरोड़ डालते या किसी ऐसे सुरक्षित ठिकाने रख छोड़ते, जहाँ के ढेर में से हमीं उसे कभी खोज न पाते।

आदमी जंगली से बदलकर हो गया है मनुष्य, भाषा बोली से बदलकर हो गई है साहित्य। यह ठीक ही हुआ है। भले ही इस कारण दोनों की पहली सरलता मिट गई हो। भले ही इस कारण दोनों को दुरूह होना पड़ा हो।

जीवन का दुरूहता की ओर अग्रसर होना अप्राकृतिक नहीं।

सरलता उसकी इसी में है। पानी का सोता फूटते ही टेढ़ा-मेढ़ा बहने लगता है। इसके लिए उसे मूर्खता का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जिस पथ से वह चलता है, उसकी अपेक्षा उसके लिए सीधा और कौन पथ होगा? आगे वह किसी नदी में जाकर गोता खा जाता है, इसके लिए भी उसकी निन्दा नहीं की जा सकती। वह तो किसी अगम-अथाह का यात्री है। नदी से नद में और नद से किसी क्षार जल-राशि में ही जाना उसका ध्येय है।

जहाँ प्राण का उच्छ्वास है, वहीं ऐसा दिखाई देगा। साहित्य मनुष्य का बनाया है, फिर भी यह निर्जीव होने के लिए नहीं बना था। गणेशजी के जन्म के सम्बन्ध में एक कथा है। पार्वती माता ने मिट्टी का एक पुतला बनाया और अपनी उँगली चीर कर उसका अमृत उसे पिला दिया। यही गणपति हमारे वाङ्मय का विघ्नविनाशक देवता है। साहित्य की सृष्टि भी ठीक इसी प्रकार हुई है। मिट्टी के किसी पुतले को अपना रक्तदान करके मनुष्य ने उसे लौकिक से अलौकिक कर दिया है। उसके प्राणोच्छ्वास का कहना ही क्या? अबाध होकर वह स्वतन्त्र है। इसी कारण वह अपने बनानेवाले से भी ऊँचा उठा दिखाई देता है। पार्वती के विवाह में गणेशपूजन की बात कही जाती है, उसका आशय भी यही है। वह यही प्रकट करने के लिए है कि व्यक्ति स्वयं अपने में बड़ा नहीं, बड़ी है उसकी कृति।

मनुष्य बड़ा होना चाहता था, एक से बहु होना चाहता था,

इसी की पूर्ति के लिए उसने भाषा का निर्माण किया। पर वड़े होने की कुछ सीमा भी है ? सीमा तभी तक है, जव तक कि नीचे की धरती है। ऊपर आकाश में उठते ही सीमा का बन्धन टूट जाता है। भाषा तब तक धरती पर थी, जव केवल यह वता देना उसका काम था कि यह पत्थर है। पत्थर की उपयोगिता जानकर मनुष्य के मन में पत्थर बनानेवाले के प्रति आनन्द का, कृतज्ञता का, भाव उठा। वह असीम था। वह इतना व्यापक था कि किसी एक जगह पकड़ा नहीं जा सका। परिमित शब्द जैसे उसे छू तक नहीं सके। पर वह रुकता कैसे ? उसके मूल में आनन्द जो था, कृतज्ञता जो थी। इसीलिए वह अजस्र-धाराओं में एक साथ फूट पड़ा। भाषा इसी जगह साहित्य का रूप धारण करती है। इसी जगह एक छोटा स्रोत अनन्त दूसरे स्रोतों से मिलकर एक वड़ा नद होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा में से साहित्य का उद्भव उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार वचपन में से यौवन का। यौवन भी कम खिलाड़ी नहीं है। अन्तर इतना है कि वचपन के खिलौने उसे रुचते नहीं हैं। हाथ के भुनभुने की छोटी भनकार ही उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाती। वह कुछ अधिक चाहता है। इसीलिए वह अपने स्वर को घुमा-फिराकर, चौड़े से सकड़े में आकर और सकड़े से चौड़े में जाकर, पहले तो अपने आप कठिनता उत्पन्न करता है और फिर उसी कठिनता से सङ्गीत का नया ही रस लेता है। और इसी तरह अपने घर की वगीची में अपने स्वजनों से रक्षित होकर चलने में अपनी दौड़-फिर की

प्यास भी वह नहीं बुझा पाता। वहाँ उसे ऐसा लगता है, जैसे अपने पैरों वह चल ही न रहा हो। पैरों का यह अपमान वह सह नहीं सकता। इसीलिए वह अकेला, अरक्षित ही चल पड़ता है, किसी बहुत दूर के लिए। वहाँ के लिए, जहाँ चारों ओर भयंकर गहनता है। जहाँ स्वजनों की छाया नहीं है। जहाँ माता की ममता नहीं है। जहाँ दूर तक दुर्गम अरण्य फैला हुआ है। वह जानता है, इस सबके उस पार वह उस विराट् नदी के दर्शन करेगा, जिसका मधुर और गम्भीर घोष उसने कल्पना की सहायता से यहीं पर सुन लिया है। उसने उसे देखा नहीं है, पर वह जानता है कि वह बहुत दूर नहीं है। दूर भी हो तो उसके पैरों में बल है और मन में शुद्ध संकल्प। सारी कठिनाइयों को रूँदते हुए, जिस समय वह वहाँ पहुँचकर अवगाहन कर लेगा, उसी समय मार्ग की सारी कलुषता और श्रान्ति एक साथ धुल जायगी। उस समय उसे जान पड़ेगा कि बीच की सारी कठिनाई यहाँ के लिए सरलता का ही रूपान्तर थी।

कला

(ले० श्री हरिभाऊ उपाध्याय)

सर्व-साधारण कला के दो ही अर्थों से परिचित हैं—१. विद्या जैसे शास्त्र कला और २. कुशलता, जैसे संभाषण कला। पर इनसे बढ़कर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय में तद्वत् पहुँचाने या उद्दीप्त करने की विद्या का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय तक लेजानेवाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय में उठे शोक, आनन्द, विस्मय, करुणा आदि भावों को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय में तद्वत् जागृत कर पाता है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा, कोई अपने इंगित वा अंग-विशेष द्वारा, कोई अपनी कलम वा कूँची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जागृत करता है। अतएव किसी कलाधर का उपकरण होता है उसका स्वर, किसी का होता है उसका अंग-विक्षेप, किसी की कलम और किसी की वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देनेवाले को हम संगीत-पटु, अंग-विक्षेप के द्वारा परिचय देनेवाले को

अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देनेवाले को चित्रकार और वाणी के द्वारा देनेवाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाधरों में होती है। इस प्रकार उपकरण-भेद से कला के भिन्न-भिन्न भाग हो गये हैं—संगीत-कला, नाट्य-कला, चित्र-कला, काव्य-कला और स्थापत्य-कला आदि। प्रायः लोग कला के इस मर्म को नहीं जानते। चित्रों में केवल रंग-विरंगे, चमकीले-भड़कीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आँखें गड़ जाती हैं, कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आँखों को आनन्द होता है। उनकी आनन्द और सौंदर्य-संबंधी धारणाएँ भी उनके संस्कार के ही अनुरूप रहा करती हैं। चित्रकार और पत्रकार प्रायः उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई देकर, ऐसे ही चित्रों के कनिष्ठ नमूने पेश करते रहते हैं जिससे उनके चित्र और पत्र खप जाएँ। सर्व-साधारण की वे संस्कार-हीन धारणाएँ ज्यों की त्यों बनी रहें तो रहें। इस कारण न सर्व-साधारण की कलाभिरुचि जागृत और परिष्कृत होती है न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान ही नहीं पाते कि अच्छा चित्र वह नहीं है जो आमतौर पर आँखों को सुन्दर मालूम हो, बल्कि वह है जिसे देखकर हृदय में उच्च, पवित्र, निर्मलभाव उदय हों। ऐसे भाव उठें जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश-सेवा, जन-सेवा करने की, कायरता छोड़ने और पुरुषार्थ बढ़ाने का, दुर्व्यसन और दुराचार से मुँह मोड़ने और सद्गुणों की वृद्धि करने की उमंग मन में

पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सबसे अच्छी कसौटी यह है कि उसे देख कर मन में उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जैसे यदि किसी स्त्री के चित्र को देख कर मन में कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देख कर वहाँ विलास करने की इच्छा पैदा हुई तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन में प्रधान रूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र में प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यतः देखनेवालों के मन पर अधिकार करता है। संक्षेप में कहें तो जिस चित्र को देखकर मनमें कुविचार उत्पन्न होते हों, बुरे भाव उत्पन्न होते हों, वह अधम है, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्रकार अपनी कला के बल पर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भाव समाज के हृदय में उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिए आवश्यक भावों की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसलिए कलातत्त्वज्ञों ने ऐसे ही चित्र-कार की कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नहीं कहते, बल्कि उसे कला के आसन पर ही नहीं बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं, उसी तरह समाज को ऊपर चढ़ाने-वाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अधः-पतन का रास्ता दिखानेवाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

निकलना चाहती है तब कला का उदय होता है। एक की सजीवता और स्निग्धता जिस प्रभावशालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे में जागृत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक माध्यम हुई दो हृदयों को एक रस बनाने का। दो हृदयों का, दो जीवनों का, यह मधुर-मिलन किसी एक उद्देश्य से होता है। कला उसी का साधन है। किसी के मन में एक अनूठा भाव जगा, उससे न रहा गया। उसने कूँची उठाई और एक काग़ज़ पर लकीरें खींचकर उसे अभिव्यक्त कर दिया। एक सजीव छवि बन गई। यह चित्र-कला हो गई। यदि उस भावावेश में वह गाने या नाचने लगता तो वह संगीत-कला और नृत्य-कला हो गई होती। यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाट्य-कला कह देते। काव्य में जिसे चमत्कार कहते हैं वही कला है। काव्य में ध्वनि भी कला है। काव्य स्वयं भी एक कला है, क्योंकि वह भी हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति ही है। रस उसमें सजीवता और आनन्द ला देता है। भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही सात्विक होगी। हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा। हमारे भिन्न-भिन्न भाव, हमारे मानसिक व्यापार हमारे सारे पिण्ड के प्रतिबिम्ब हैं। हमारे पिण्ड में जैसे संस्कार संगृहीत हुए होंगे वैसी ही भावनाएँ होंगी वैसी ही हम दूसरों में प्रेरित और जागृत करेंगे अर्थात् जैसे हम होंगे वैसे ही हम दूसरों को बनाने में सफल होंगे। इसलिए कलाकार जैसा होगा वैसी ही उसकी कलाकृति होगी, वैसा ही उसका परिणाम

दूसरे पर होगा। कलाकार ने अपने अन्तःकरण के जिन तारों को छेड़ा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्सदृश तारों को दर्शक के अंतःकरण में स्वरित करेंगे। विशुद्ध कलाकृति के लिए कलाकार का अंतःकरण निर्दोष होना ही चाहिए। अंतःकरण की मलिनता को धोने के लिए, मलिन वासनाओं को मिटाने के लिए सत्य की आराधना जरूरी है। भौतिक पदार्थों की आराधना उसे अधोमुख करेगी और क्षुद्रताओं से, रागद्वेष से ऊपर न उठने देगी। हर जगह सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न और नीची वस्तुओं के लोभ से, हटाने की चेष्टा करेगी उस क्रिया में उसका हृदय विशुद्ध होता जाएगा। उसमें स्वार्थ भोग आदि के संस्कार नष्ट होते जायँगे। क्योंकि ज्यों-ज्यों वह सत्य की ओर आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसे उसमें इतना आनन्द, सुख और परोपकार देख पड़ेगा कि स्वार्थ भोग आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा। इनकी साधना से मिलनेवाला आनन्द या सुख बिल्कुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम में पश्चात्तापात्मक मालूम होने लगेगा। इस तरह कलाकार जितना ही सत्य पूत होगा, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी। कला कलाकार की सृष्टि है। वह अपने जीवन के सारे सत्व को कलाकृति के रूप में जगत की भेंट करता है। उसकी कृति में जितनी ही सत्य की झलक होगी उतनी ही उसकी कला-सृष्टि दिव्य और अमर होगी— उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति-जीवन, चैतन्य, आनन्द, सुख देगी।

संसार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु-अणु में एक

ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता निखरी और बिखरी हुई है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके बिना सम्भव नहीं है। हमने इस सत्य को जाना तो; किन्तु इसका अनुभव कैसे हो ? हमारे जीवन में इसकी प्रतीति हमें कैसे हो ? हम अपने अन्दर उस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखें ? हम और वह दोनों जो आज पृथक् हैं, एक-दूसरे में मिल कैसे जाएँ ? इसका उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाव, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हर एक धड़कन, हमारे फेफड़े की हर एक सांस, हमारा एक-एक रोम इस स्फूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड में मैं फैला हुआ हूँ। सारी सृष्टि मेरे अन्दर है। जगत् का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है। जगत् में कहीं कष्ट देखूँ तो ऐसा अनुभव हो कि यह कष्ट मुझे हो रहा है। संसार में कहीं आनन्द देखूँ, किसी को सुखी देखूँ, तो स्वयं कष्ट में रहते हुए भी उस आनन्द में नाचने लगूँ। मेरा शत्रु या हिंस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमें अपनी ही आत्मा की ज्योति दिखाई दे। जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है— अपने आपमें इतना तल्लीन हो जाता है— या यों कहें कि अपने आपको भूल जाता है, सत्य की स्फुरणा ही अवशिष्ट रह जाती है, तब वह जो सृष्टि-रचना करता है, उसे कला कहते हैं। वह सत्य की झलक होती है। शान्ति, करुणा, प्रेम, उदारता, वीरता, शोक, उत्साह, साहस, चिन्ता किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो; होगी सत्य की प्रेरणा का फल। वह भाव मूल में सत्य से आरम्भ हुआ है, फिर शान्ति, वीरता, चिन्ता या

किसी भी भाव में उसका विकास हुआ है; इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दर्शक के मन में उसी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे उस मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहाँ से कलाकार के मन में यह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि में सत्यमूलक और अन्त में सत्याभिमुख है; मध्य में वह भाव-विशेष का रूप ग्रहण कर लेती है। या यों कहें कि एक सत्यांश से दूसरे सत्यांश को जगानेवाले भाव-विशेष की अभिव्यक्ति का नाम कला है। इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नहीं है। उसका परिणाम है—भावोन्मत्तता और साध्य है—सत्य का साक्षात्कार, सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भाषा में कला का अर्थ है—कुशलता। कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस अर्थ में कला एक मानसिक गुण हुई। और वह हर एक व्यावहारिक मनुष्य के अन्दर परम आवश्यक है। पर कला से अभिप्राय यहाँ उस कृति से है जो हमारे हृदय को जगा देती है, बार-बार उसे गति देती रहती है; बस इसके आगे उसका काम समाप्त हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकड़कर—आपका साथी या नेता बन कर, आपकी सहायता नहीं करता; वह तो एक ऐसा दृश्य दिखा देता है जिससे आपके अन्तःकरण में एक हलकी मीठी गुदगुदी उत्पन्न होती है और आपकी आत्मा जागृत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। समवेदना उसकी जननी है। किसी कल्पना या दृश्य से कलाकार के हृदय को चोट पहुँ-

चती है, क्षोभ होता है या आनन्द होता है। उससे उसके अन्तःकरण के कपाट खुलते हैं, वहाँ से एक रस की धारा फूटती है। समवेदना उसमें मृदुलता की दूसरी धारा छोड़ती है। दोनों मिलकर किसी उपकरण के द्वारा कोई स्थूल रूप ग्रहण करती है—उसे हम कला कहते हैं। अतएव कला का कार्य केवल दूसरे चित्रों की नकल, या मानव मूर्त्तियों का चित्रण, अथवा सृष्टि के विविध दृश्यों का दर्शन नहीं है; वल्कि भाव-दर्शन के द्वारा भावोद्बोधन है। कलाकार मानव-मूर्त्तियों में भाव का प्रवेश नहीं करता, वल्कि भावों की मानव-मूर्त्तियों को पार्थिव दृश्यों में उपस्थित करता है। जिन दृश्यों को मनुष्य प्रायः अपने जीवन में देखता है उनकी प्रतिकृति उसका कार्य नहीं है; वल्कि एक नई सृष्टि रचना उसका कार्य है। उसे एक दूसरा विधाता ही समझिए। वह हमारे विधाता की रची सृष्टि का नकल नहीं करता, वल्कि उसमें सुधार करता है, उससे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और दिव्य सृष्टि रचना चाहता है। वह एक आदर्श को मानवी हाथ-पाँव आदि अंग जोड़कर हमारे सामने रखता है। इस अंग-रचना में वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। वह यदि यह समझता है कि अँगुलियाँ लम्बी बनाने से चित्र की सुन्दरता बढ़ेगी तो फिर इस बात का विचार नहीं करता कि ब्रह्मदेव ने तो इतनी लंबी अँगुलियाँ मनुष्य की नहीं बनाई हैं, मैं कैसे बनाने का साहस करूँ। इस अर्थ में कलाकार मौलिक, साहसी और स्वतन्त्र होता है।

कला को उदर-पूर्ति का साधन हरगिज न बनाना चाहिए।

उदर जब तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तब तक उसकी पूर्त्ति अनिवार्य है, परन्तु उसके लिए जीवन के प्रधान और महान् उद्देश्य को बिगाड़ा नहीं जा सकता। जो महान् और सच्चे उद्देश्य के लिए जीते हैं उन्हें न तो पेट की चिंता होती है और न उन्हें वास्तव में भूखों मरना ही पड़ता है; यदि मरना भी पड़े तो उसमें भी वे अधिक आनंदित रहते हैं और चमकते हैं। उदर-पूर्त्ति का भाव प्रधान हुआ नहीं और कला भ्रष्ट हुई नहीं, क्योंकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नहीं रह जाती; अन्न-दाता या धन-दाता की रुचि की दासी बन गई। कहाँ आत्मा की स्वतन्त्र ज्योति और कहाँ दूसरे की रुचि की गुलामी ? कितना स्पष्ट पतन ! पेट की चिंता, पुरस्कार की इच्छा उन्हीं कलाओं को हो सकती है जिन्होंने किसी उच्च या महान् उद्देश्य के अनुवर्ती होकर कला-जीवन नहीं आरम्भ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला-रसिक लोगों का कर्त्तव्य है कि वे कलाकारों की जीविका का उचित प्रबंध कर दिया करें। जब तक समाज या कला-रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के लिए जागृत नहीं हैं तब तक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वयं धनोपार्जन करे, या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भान करावे। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कला-कृतियाँ तो देगा। उनसे समाज का मनोरंजन विशेष रूप से होगा, परन्तु समाज में जागृति कम होगी और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव में कष्ट सहन करेगा, वह समाज में एक

जागृति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओं से प्रेरित होकर जो कला-कृतियाँ निर्माण करेगा उनमें अद्भुत प्रभाव, बल और जीवन होगा; जिससे समाज को अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम केवल अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं, किन्तु धनाभाव से कष्ट उठाकर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। जो वस्तु हमारे लिए आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उसमें आनन्द मानना, कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम उन व्यक्तियों, संस्थाओं, श्रेणियों का ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनके लिए यह आवश्यक है कि वे उस वस्तु को हम तक पहुँचावें। जब उन तक इस बात की खबर पहुँचेगी तो वे तत्काल सोचने लगेंगे कि अमुक आदमी ऐसा क्यों कर रहा है? उसके बाद ही वे ये सोचेंगे कि इस विषय में हमारा क्या कर्त्तव्य है? इसके पश्चात् वे उसके साधन की पूर्त्ति करने की चेष्टा करेंगे। ज़बानी या लिखित माँग के द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्त्ति हो सकती है, किन्तु, दोनों के प्रभाव और फल में अन्तर है। ज़बानी और लिखित माँग उस वस्तु की अनिवार्यता उतने ज़ोर के साथ नहीं ज़ाहिर करती जितनी कि कष्ट सहन द्वारा की गई माँग। फिर कष्ट-सहन से अपने में संतोष और संयम का गुण बढ़ता है एवं दूसरे में कर्त्तव्य-जागृति का।

इतने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके

होंगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतन्त्रता और पवित्रता से मिली हो और कलाकार वह है जिसने जीविका के बाज़ार में बेचने के लिए कला को न सिरजा हो।

———

मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी-साहित्य

[डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्]

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार, किसी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अँग्रेजी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालों को उन भाषा-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हिन्दी-साहित्य के ठीक अध्ययन के लिए भी हिन्दी-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

सब से पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी-भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है। आधुनिक काल में भारतवर्ष की राजभाषा अँग्रेजी है। मुग़ल काल में फ़ारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फ़ारसी और अँग्रेज़ी कभी भी राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। ये केवल राजभाषाएँ थीं और हैं। राष्ट्रभाषा अन्तर्प्रान्तीय उपयोग की भाषा होती है। इस से भारतवर्ष में व्यापक राष्ट्रीयता का

आन्दोलन प्रचलित हुआ है तब से हिन्दी राष्ट्रभाषा अथवा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के स्थान को लेने के लिए निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। तो भी बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र एवं गुजरात आदि की शिक्षित जनता बंगाली, मराठी, तेलगू और गुजराती आदि में ही अपने मनोभावों को प्रकट करती रही हैं। ये भाषाएँ अपने-अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस तरह राज-भाषा, राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ तीन पृथक् बातें हुईं। साहित्यिक भाषा ही किसी प्रदेश की असली भाषा कही जा सकती है—राजभाषा या राष्ट्रभाषा नहीं। अस्तु ! वास्तव में उन्हीं प्रदेशों को हिन्दी-भाषी की संज्ञा से सम्बोधित करना चाहिए जहाँ शिष्ट लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति हिन्दी में करते हैं तथा जहाँ की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। भारत के मान-चित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि संयुक्त-प्रान्त, दिल्ली, हिन्दी मध्यप्रान्त, राजपूताना, बिहार तथा मध्यभारत की देशी रियासतों का भूमि-भाग ही इसके अन्तर्गत आ सकता है। इसी को हम हिन्द प्रदेश, या प्राचीन परिभाषा में मध्यदेश, कह सकते हैं। यह सच है कि इस प्रदेश के कतिपय भागों में, हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप में मानने के सम्बन्ध में जब-तब विरोध सुनाई पड़ता है। उदाहरणार्थ—बिहार प्रान्त में मैथिल पंडितों का एक दल मैथिली को तथा राजपूताना के मारवाड़ प्रान्त के कुछ विद्वान् डिंगल को ही उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा के लिए उपयुक्त समझने लगे हैं। यह विरोध कदाचित् क्षणिक है; किन्तु यदि ये प्रदेश हिन्दी के साहित्यिक प्रभाव के

क्षेत्र से अलग भी हो जावें तो भी हिन्दी या मध्यदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिन्द या मध्यदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमें यह देखना है कि 'संस्कृति' क्या वस्तु है, तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं? संक्षेप में संस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित चार मुख्य अंगों का समावेश किया जा सकता है:—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) राजनैतिक परिस्थिति, तथा (४) सामाजिक संगठन। ये चार कसौटियाँ हैं, जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संगठन में जाति-व्यवस्था एवं शिक्षा, कला आदि का भी समावेश हो सकता है। हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरोप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु मध्यदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी सभ्यता के इतिहास पर इस अल्प समय में पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में ही इसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन, मध्यम तथा आधुनिक। आधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। लगभग संवत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिए। मध्य युग का समय वि० सं० १ से १८०० सं०

क्षेत्र से अलग भी हो जावें तो भी हिन्दी या मध्यदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिन्द या मध्यदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमें यह देखना है कि 'संस्कृति' क्या वस्तु है, तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं? संक्षेप में संस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित चार मुख्य अंगों का समावेश किया जा सकता है:—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) राजनैतिक परिस्थिति, तथा (४) सामाजिक संगठन। ये चार कसौटियाँ हैं, जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संगठन में जाति-व्यवस्था एवं शिक्षा, कला आदि का भी समावेश हो सकता है। हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरोप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु मध्यदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी सभ्यता के इतिहास पर इस अल्प समय में पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में ही उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन, मध्यम तथा आधुनिक। आधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। लगभग संवत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिए। मध्य युग का समय वि० सं० १ से १८०० सं०

तक समझना चाहिए और प्राचीन युग का विक्रमी संवत् के प्रारम्भ से १२०० वर्ष पूर्व तक। इस प्राचीन युग का भी एक प्रकार से प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे भी पूर्व के समय को प्रागैतिहासिक युग में रख सकते हैं। इतने दीर्घकाल के इतिहास पर विहंगम दृष्टि से भी विचार करना सरल नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति की दृष्टि से मध्य-देश का इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृति का तो यह एक प्रकार से उद्गम है। मध्यदेश की संस्कृति का ही यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष की संस्कृति कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में ऋक्, यजुः, साम आदि वेदों की संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्य तथा उपनिषदों आदि की रचनाएँ हुईं। इसके पश्चात् यज्ञों की रूढ़ियों आदि के कारण एक प्रतिक्रिया हुई जिसके फल-स्वरूप बौद्ध तथा जैन-धर्मों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन वैदिक धर्म के सुधार-स्वरूप ही ये दो नवीन धर्म उत्पन्न हुए थे। इन सुधार-आंदोलनों के साथ उसी समय 'वासुदेव-सुधार' आंदोलन भी प्रचलित हुआ जिसने बाद को वैष्णवधर्म का रूप ग्रहण किया।

यदि संहिता-काल के धर्म पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि इस काल में उपासना के क्षेत्र में प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में परमसत्ता को देखने की ओर ही आर्यों का विशेष लक्ष्य था। इस काल में मन्दिर आदि पूजा-स्थानों का अभाव था। उदाहरणार्थ, प्रातःकालीन लालिमा के दर्शन कर आर्य ऋषि आनन्द-बिभोर हो उठते थे, जिसके फल-

स्वरूप उषा के स्तवन में अनेक ऋचाएँ उनके गद्गद् कंठ से निःसृत हुई। इसके पश्चात् यज्ञों की प्रधानता का समय आया; जिनमें धीरे-धीरे कर्मकांड और पशुबलि की प्रधानता हो गई। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सुधारवाद के आंदोलनों ने—जिनमें बौद्ध, जैन तथा वासुदेव सुधार सम्मिलित हैं-यज्ञ-काल के कर्मकाण्ड तथा हिंसा के विरुद्ध प्रचार किया।

अपनी संस्कृति के इतिहास के मध्य काल में अनेक पुराणों की—जैसे विष्णु-पुराण, अग्नि-पुराण, श्रीमद्भागवत इत्यादि की सृष्टि हुई। इसी काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश, इस देव-त्रयी की प्रधानता धर्म के क्षेत्र में हुई। आगे चलकर जब पौराणिक धर्म में भी परिवर्तन हुआ तो शिव के साथ उमा की उपासना अनिवार्य हो उठी। तांत्रिकयुग में काली रूप में इन्हीं उमा का हमें दर्शन होता है। पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद की प्रचंड लहर समस्त भारत को आप्लावित कर देती है। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश है। सगुण भक्ति भी आगे चलकर राम तथा कृष्ण शीर्षक दो शाखाओं में विभक्त हो गई।

आधुनिक युग का निश्चयात्मक रूप अभी हम लोगों के सम्मुख नहीं आया है। सच तो यह है कि मनुष्य की तरह संस्कृति की भी एक आयु होती है। किन्तु यह आयु लगभग ५०, ६० वर्ष की न होकर पाँच छः सौ वर्षों की होती है। एक प्रधान लक्षण जो आधुनिक संस्कृति में दिखलाई पड़ता है वह है एक बार फिर सुधार की ओर झुकाव। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी

दयानन्द की प्रेरणा से प्राचीन आर्य धर्म का एक परिष्कृत रूप मध्यदेश की जनता के सामने आ चुका है। हिन्दी-साहित्य एवं भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह बात विदित होगी कि हिन्दी-साहित्य का एक चरण मध्ययुग में तथा दूसरा चरण आधुनिक युग में है। एक ओर यदि रीतिकाल का आश्रय लेकर कवित्त-सवैयों में रचना हो रही है तो दूसरी ओर छाया-वाद तथा रहस्यवाद के रूप में काव्य की नवीन धारा प्रवाहित हो रही है। धर्म की भी यही दशा है। यद्यपि देश, काल तथा परिस्थिति की छाप आधुनिक धर्म पर लग चुकी है, फिर भी कई बातों में हम लोग मध्ययुग के धर्म से अभी तक बहुत ही कम अग्रसर हो पाये हैं।

विश्लेषणात्मक ढंग से हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर विचार करने से यह बात विदित होती है कि हिन्दी-साहित्य पर वैदिक काल का प्रभाव नहीं के बराबर है। यद्यपि गोस्वामी श्री तुलसी-दास जी ने अनेक स्थानों पर वेद की दुहाई दी है। किन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गोस्वामी जी संहिताओं से 'विशेष परिचित नहीं थे। कम से कम इसका कोई भी निश्चित प्रमाण उनकी रचनाओं से उपलब्ध नहीं होता।

हिन्दी की उत्पत्ति के बहुत काल पूर्व बौद्ध तथा जैन धर्म का एक प्रकार से भारत से लोप हो चुका था। ऐसी दशा में हिन्दी साहित्य पर इन दोनों धर्मों के स्पष्ट प्रभाव का पता न लगना स्वाभाविक है। अब रह गया पौराणिक धर्म, इसका प्रभाव

अवश्य विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। राम तथा कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार हैं और इन दोनों को लेकर मध्य युग तथा आधुनिक काल में अनेक रचनाएँ हिन्दी-साहित्य में प्रस्तुत की गई हैं।

तांत्रिक धर्म का प्रभाव पूरब की ओर विशेष रूप से था। बंगाल में शक्ति उपासना का प्रादुर्भाव इसी के परिणामस्वरूप था। आगे चलकर वैष्णवों की 'राधा' की उपासना पर भी इस तांत्रिक धर्म का प्रभाव पड़ा।

वासुदेव-सुधार की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वास्तव में वैष्णवधर्म तथा बाद के भक्ति-संप्रदायों का मूल-स्रोत यही था। हिन्दी-साहित्य का इस भक्ति-संप्रदाय से अत्यन्त घनिष्ठ संपर्क रहा है। हमारा प्राचीन हिन्दी-साहित्य एक प्रकार से धार्मिक साहित्य है। इसमें शिव का रूप गौण है। प्रधान रूप से विष्णु का रूप ही भक्ति के लिए उपयुक्त समझा गया। अतएव राम तथा कृष्ण के अवतारों के रूप में त्रयी के विष्णु का प्राधान्य मिलता है। यद्यपि संहिता तथा उपनिषदों तक में भक्ति की चर्चा मिलती है, किन्तु इसका विशेष विकास तो पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में ही हो सका।

आधुनिक युग में धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है। अतएव आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी धार्मिकता की विशेष पुट नहीं है। आजकल हिन्दी में रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं। यदि इन वादों में कहीं ईश्वर की सत्ता है भी, तो निर्गुण रूप में ही है। इधर कवींद्र रवींद्र पर कबीर की गहरी

छाप पड़ी और आधुनिक हिन्दी कविता बंगाली रचनाओं से बहुत कुछ प्रभावित हुई है। इस प्रकार धर्म के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि पौराणिक तथा भक्ति-धाराएँ ही प्रधानतया हिन्दी कवियों के सम्मुख उपस्थित रही हैं।

जैसी परिस्थिति हम धार्मिक प्रभावों के सम्बन्ध में पाते हैं लगभग वैसी ही परिस्थिति साहित्य के क्षेत्र में भी पाई जाती है। वैदिक साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। शैली, छन्द तथा साहित्यिक आदर्श, किसी भी रूप में, वैदिक साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिगोचर नहीं होता। पौराणिक साहित्य से हिन्दी-साहित्य अवश्य प्रभावित हुआ है। पुराणों में भी श्रीमद्भागवत ने विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया। कथानक के रूप में रामायण तथा महाभारत से भी हिन्दी-साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है। राम तथा कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी अनेक आख्यान संस्कृत इतिहास और पुराणों से हिन्दी-साहित्य में लिये गये हैं।

संस्कृत-साहित्य का मध्ययुग वास्तव में महाकाव्यों का युग था। इस काल में संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों तथा नाटकों की रचनाएँ हुईं। साधारणतया इन महाकाव्यों का भी प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। यह बात दूसरी है कि हिंदी के महाकाव्यों में मानव-जीवन की उस अनेकरूपता का एक प्रकार से अभाव है जो संस्कृत महाकाव्यों में स्वाभाविक रूप में वर्तमान है। केशव की रामचन्द्रिका लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य अवश्य है; किन्तु उसमें जीवन की वे परि-

स्थितियाँ कहाँ जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित हैं। संस्कृत के रीति-ग्रन्थों का भी हिन्दी-रीति-ग्रन्थों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के कई रीति-ग्रन्थ तो संस्कृत काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथों के केवल रूपान्तर मात्र हैं।

विचार करने से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य का रूप अभी तक अव्यवस्थित तथा अस्थिर है। इस युग के प्राय: अधिकांश नाटक संस्कृत के अनुवाद-मात्र हैं। मौलिक नाटकों की रचना का यद्यपि हिंदी से आरम्भ हो चुका है, किंतु मौलिकता की जड़ें पक्की नहीं हो पाई हैं। हिंदी के कई नाटकों पर द्विजेंद्रलाल राय की शैली की स्पष्ट छाप है। बर्नार्डशा जैसे अंग्रेजी के आधुनिक नाट्यकारों का अनुकरण भी दिनोंदिन बढ़ रहा है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी नाटक तेजी से आधुनिकता की ओर झुक रहे हैं।

एक स्थान पर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य का एक पैर अभी तक मध्ययुग में है। यह बात प्राचीन परिपाटी के नवीन काव्यग्रंथों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आधुनिक ब्रजभाषा के अधिकांश काव्यग्रंथों में धार्मिकता तथा साहित्यिकता प्रचुर-मात्रा में विद्यमान है। रीति-ग्रंथों का भी लोप नहीं हुआ। अभी हाल ही में 'हरिऔध' ने 'रसकलश' के रूप में इस विषय पर एक बृहत् ग्रन्थ हिंदी-साहित्यिकों के लिए प्रस्तुत किया है।

हिंदी-साहित्य का अध्ययन करनेवालों को एक बात विशेष रूप से खटकती है और वह है राजनीति तथा समाज की ओर

कवियों की उपेक्षावृत्ति। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना में तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव चित्रों की अभिव्यंजना रहती है। किन्तु जब हम इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य, विशेषतया पद्यात्मक रचनाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। यह परिस्थिति कुछ-कुछ पहले भी थी और आज भी कायम है। सूरदास, नन्ददास, आदि कृष्ण-भक्त तथा बाद के आचार्य कवियों के अध्ययन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि मानों इन्हें देश, जाति तथा समाज से कोई प्रयोजन ही न था। मथुरा वृंदावन आगरे के अत्यन्त समीप हैं, किंतु देश की राजनैतिक समस्याओं का इन भक्त कवियों की रचना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। यह हिंदियों तथा हिंदी-साहित्य दोनों के लिए दुर्भाग्य की बात है। जब हम मध्यकाल के मराठी-साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो उसमें देश-प्रेम तथा जातीयता की भावना पर्याप्त-मात्रा में पाते हैं। शिवाजी के राजनैतिक गुरु समर्थ रामदास में तो देश तथा जातीयता के भावों का बाहुल्य था। हिंदी के मध्ययुग में लाल तथा भूषण दो ही ऐसे प्रधान कवि हैं, जिनमें इस प्रकार के कुछ भाव विद्यमान हैं—यद्यपि इनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है। आज भी हिंदी के ललित साहित्य में राजनीति तथा समाज की उपेक्षा हो रही है। नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक अंग पर अब कुछ प्रकाश पड़ने लगा है; किंतु हमारे आधुनिक कवि तथा लेखक राजनैतिक सिद्धान्तों और समस्याओं की ओर न जाने क्यों आकृष्ट नहीं होते। इसलिए देश की वर्तमान परिस्थिति

को ही हम दोषी ठहराकर उन्मुक्त नहीं कर सकते। किसी भी देश के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देशकी संस्कृति के विविध अंगों तथा समस्त प्रमुख समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय।

हिंदी-साहित्य में आगे चलकर कौन विचार-धारा प्रधान रूप से प्रवाहित होगी, इसे निश्चित रूप से बतलाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वर्तमान अवस्था में अवश्य परिवर्तन होगा। देश में प्राचीन संस्कृति की नींव अभी गहरी है। अतएव नवीन नींव की हमें आवश्यकता नहीं। आज तो केवल इस बात की आवश्यकता है कि प्राचीन नींव पर ही हम नवीन सुदृढ़ भवन निर्माण करें।

प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व

(श्री शांतिप्रिय द्विवेदी)

प्रभात में देखते हैं—पूरब से प्रकाश का एक गोला निकलता है, चिड़ियाँ चहचहा उठती हैं, कृषक हल जोतने लगता है। फिर, पश्चिम में वह गोला धीरे-धीरे डूब जाता है, अँधेरा हो जाता है, चिड़ियाँ बसेरों में लौट पड़ती हैं, कृषक बैलों को साथ लिये हलों को कंधे पर रखे हुए अपनी-अपनी झोंपड़ियों को चल देते हैं।

यदि किसी रचना में इतनी ही बात लिख दी जाए तो वह कविता नहीं, कोरी तुकबंदी बन जाएगी। कविता और तुकबन्दी में अन्तर यह है कि हम संसार में जो कुछ देखते हैं, तुकबन्दी उसका वर्णन भूगोल की तरह कर देती है। इस तरह का वर्णन तो स्कूल के मास्टर साहब भी भली-भाँति कर सकते हैं, तो क्या वे भी कवि कहलाएँगे ? नहीं; कवि तो उसे कहते हैं जो कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को अपनी ही तरह सुख-दुःखपूर्ण समझे, अपनी ही तरह उनमें भी हास और अश्रु देखे; अपनी ही तरह सृष्टि की प्रत्येक लीला में जीवन का अनुभव करे, क्योंकि सब में एक ही परम चेतन (परमात्मा) की ज्योति छिपी हुई है। वही परम चेतन इस सृष्टि का नियन्ता है, यह सृष्टि ही उसकी कविता है। हमारे यहाँ उस परम चेतन के लिए कहा गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः

अर्थात् वही मनीषी, व्यापक, स्वयंभू और कवि है।

हमारा कवि, संसार में उसी कवि-मनीषी का प्रतिनिधि है। इसीलिए वह जड़ चेतन में छिपी हुई उस एक ही परम चेतन की ज्योति को पहचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति को पहचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति का सम्मिलन करा देता है। तब उसे यह सारा संसार एक ही प्रकाश में चमकता हुआ दिखाई पड़ता है। कमल की पंखुड़ियों की तरह भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हुए भी, वह इस सम्पूर्ण विश्व को सच्चिदानन्द-पद्मरूप में एक ही परिपूर्ण शतदल की तरह खिला हुआ देखता है। वह जब प्रभात में बालारुण को उदय होते हुए देखता है तब उसे ऐसा जान पड़ता है, मानो वह भी उसी की तरह धीरे-धीरे उदित हो रहा है।

जैसे प्रभात में जग कर हम अपने-अपने कर्म-पथ पर चल पड़ते हैं, उसी भाँति सूर्य्य भी सुनहले रथ पर बैठ कर अपने कर्म-क्षेत्र की ओर बढ़ा जा रहा है।

कवि को भूगोल और खगोल में कोई भिन्नता नहीं दिखाई पड़ती। दोनों ही स्थानों में वह एक ही जीवन-चक्र को घूमते हुए देखता है, उसे ऐसा जान पड़ता है कि एक ही सूत्रधार (परमात्मा) की उंगलियों के संकेत पर प्रकृति भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा एक ही महानाटक खेल रही है। इसी दृष्टि से, कवि जब किसी उपवन में एक खिले हुए गुलाब को देखता है, तो वह साधारण लोगों की तरह केवल यह नहीं देखता कि वह एक फूलमात्र है, बल्कि वह तो उस प्यारे फूल को भी हमारी तुम्हारी तरह ही एक सजीव प्राणी समझता है। जैसे हम अपनी माँ की

कोमल स्नेह-गोद में हँसते-खेलते हैं, वैसे ही वह भी प्रकृति की सरल गोद में हँसता-खेलता और लहराता है। उसका सैलानी साथी पवन, उसे दूर-दूर के देशों की अनोखी-अनोखी बातें सुनाता है, जिन्हें सुनकर कभी तो वह विस्मित और स्तब्ध हो जाता है और कभी आनन्द से विह्वल होकर थिरकने लगता है।

तुम कहोगे—भला यह कैसे सम्भव है ? हमारे जैसी वहाँ चेतना कहाँ ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हम लोग मुनिया (मुन्नी) के पास चलें। वह देखो, अपनी गुड़ियों के साथ इस तरह हिलमिल कर खेल रही है, किस तरह घुलमिल कर हँस-बोल रही है।

रात में जब लोग सोने लगते हैं, तो मुनिया भी अपनी प्यारी गुड़िया को दूध-भात खिला कर सुला देती है और अपने नन्हें-नन्हें हाथों से कोमल-कोमल थपकियाँ दे-दे कर कहती है—'छोजा मेली मुन्नी, छोजा!'

आओ, हम मुनिया से पूछें तो सही—बहिन, तुम्हारी गुड़िया तो बोलती ही नहीं, फिर तुम कैसे उससे बातें करती हो ?

लो, वह तो हमारी जिज्ञासा सुन कर बड़े आश्चर्य से हमारी ओर देखने लगी। उसे तो विश्वास ही नहीं होता कि उसकी प्यारी गुड़िया उसी की तरह सजीव नहीं। जैसे वह अपनी माँ की मुनिया है, वैसे ही उसकी प्यारी गुड़िया भी तो उसकी मुनिया है।

बात यह है कि मुनिया ने अपने प्राणों को गुड़िया में भी

डाल दिया है, इसीलिए वह न बोलते हुए भी मुनिया से बातें करती है। मुनिया उस बातचीत को समझती है, क्योंकि उसी ने तो उसमें प्राण डाला है। इसी तरह कवि भी, पुष्पों में, वृक्षों में, लहरों में, तारों में, सूर्य में, शशि में, सब में अपने प्राणों को ढाल देता है और वे सब के सब उसके लिए उसी की तरह सजीव हो उठते हैं। जैसे पारस पत्थर लोहे को सोना कर देता है, वैसे ही कवि की सजीवता जड़ को भी चेतन कर देती है।

आखिर नई सृष्टि और इस नई भाषा का उद्देश्य ?—इसके उत्तर में मैं पूछता हूँ—भाई, जिस मुहल्ले में रहते हो, वहाँ यदि तुम्हारे बहुत से गहरे साथी बन जाएँ तो तुम्हें क्या खुशी न होगी ? उन अभिन्न साथियों के बीच हँसते-खेलते, बात की बात में दिन ऐसे बीतते जाएँगे कि तुम प्रतिदिन अपने जीवन को बहुत-बहुत प्यार करने लगोगे। तुम चाहोगे अहा, एक-एक दिन हजार-हजार वर्षों जैसे लम्बे हो जाएँ। इसीलिए और इसी भाँति, कवि भी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मित्रता जोड़ लेना चाहता है—सब के साथ वह हँसता-बोलता है, सब के साथ वह रोता-गाता है।

बन्धु, जब तुम हँसते हो, तब तुम्हारा साथी भी हँसता है। जब तुम रोते हो, तब तुम्हारा साथी भी रोने लगता है। तुम्हारे सब साथी तुम्हारी सजीवता के कारण तुम्हारे हँसने-रोने की प्रतिध्वनि देते हैं। यदि तुम निर्जीव होते तो उनके भीतर से प्रतिध्वनि नहीं निकलती। तुम सजीव प्राणी हो, इसीलिए जंगल का सुनसान सन्नाटा भी तुम्हारी बातों की प्रतिध्वनि देता है।

इसी तरह कवि भी सृष्टि की जिन-जिन जड़-चेतन वस्तुओं से अपनी मित्रता जोड़ता है, वे सब उसी की सजीवता से सुस्पन्दित होकर, उसके ही हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते हैं एवं उसके ही—जैसे सहृदय बन जाते हैं।

इसी मित्रता के कारण कवि, प्रकृति की प्रत्येक दिशा में अपने ही जैसे जीवन की झलक देखता है। सृष्टि की मूक वस्तुओं को भी अपने ही जैसा हिलता-डुलता प्राणी समझता है। क्या यह कोई अच्छी बात नहीं है?

हाँ तो, कवि अखिल सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता जोड़ता है, उसकी कविता उतनी ही सुख-शान्तिपूर्ण एवं आध्यात्मिक बन जाती है। हम भरत-खंड के निवासी हैं, हमारे कुछ अपने कवित्वपूर्ण विश्वास हैं, उन्हीं विश्वासों के कारण हमने आसेतुहिमाचल, प्रकृति के अंचल में ही अपने तीर्थस्थल बनाये है। हमें वहाँ शीतलता मिलती है, शान्ति मिलती है; सान्त्वना मिलती है; यमुना हमें प्रीति प्रदान करती है, गंगा हमें भक्तिदान करती है।

प्रकृति के मुक़ाबिले में आज स्वार्थों को जो प्रधानता मिल गई है, और मनुष्य प्रकृति से विच्छिन्न होकर नगर-नगर में जो मिलें और फ़ैक्ट्रियाँ खोलता जा रहा है, इसका कारण है विज्ञानवाद। विज्ञान को प्रकृति-विजयी होने का दावा है, इसीलिए राष्ट्र-रक्षा के नाम पर वह जंगल का जंगल काटकर उन्हें लड़ाई का मैदान भी बना सकता है और मनुष्य के नाम

पर मनुष्य के ही रक्त से पृथ्वी को सींच कर अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता का कंटीला झाड़ भी उगा सकता है। इस प्रकार प्रकृति ही नहीं, मनुष्य भी पदार्थ होता जा रहा है, प्रधान हो गया है यन्त्रवाद। यहाँ तक कि मनुष्य भी यन्त्रों के बनने लगे हैं। कवि जब प्रकृति के साथ आत्मीयता जोड़ने लगता है तब वह इसी यन्त्रवाद के प्रतिकूल मानों मानवी चेतना को अग्रसर करता है।

काव्य-जगत् में प्रकृति भी हमारी पारिवारिक है, हमारी वाटिका के खग-मृग, पुष्प-भवन और छाया-प्रकाश के निखिल रूप में। मनुष्य के जीवन में काव्य है, संगीत है, सौन्दर्य है। प्रकृति में भी यह सब कुछ है इसीलिए विश्व-जीवन के साथ उसका ऐक्य है, पारिवारिक सौख्य है। कवि पन्त ने श्रमजीवी मानव को प्रकृति के सान्निध्य में जिस चित्र-चारुता से उपस्थित किया है, वह इस यन्त्रवादी जड़युग में मनुष्य और प्रकृति के स्नेह-सहयोग का सहज स्वाभाविक निदर्शन है।

> बाँसों का झुरमुट
> सन्ध्या का झुटपुट
> हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
> टी-वी-टी-टुट् टुट् !
>
> वे ढाल-ढाल कर उर अपने
> हैं बरसा रहीं मधुर सपने
> श्रम-जर्ज्जर विधुर चराचर पर
> गा गीत स्नेह-वेदना-सने

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी डगमग डग,
भारी है जीवन भारी पग !!

आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग,
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग,
औ, गन्ध-पवन झलमन्द व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली है जिनकी रग-रग !

'युगान्त'

यों ही अनेक प्रकार से—

यह लौकिक औ, प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला,
आरहा,—सृष्टि के साथ पला !

इसे संसार का कोई भी रियलिज्म, कोई भी विज्ञान मिटा नहीं सकता, जब तक पृथ्वी पर कवि नामक प्राणी शेष है।

कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में काव्य पढ़ने के समय भी यदि हिसाब का खाता आगे खोलकर रखना पड़ता हो और वसूल क्या हुआ इस बात का निश्चय उसी समय कर लिया जाता हो तो मैं यह स्वीकार करूँगा कि मेघदूत से एक तथ्य पाकर हम आनन्दित हुए हैं। वह यह कि उस समय भी मनुष्य थे और उस समय भी आषाढ़ का प्रथम दिन नियमित समय पर आता था।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध

[पं० नन्ददुलारे वाजपेयी]

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने की माँग प्रबल हो रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इसी माँग का मूल्य पड़ता है और इसी की कीर्त्ति गाई जा रही है। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी बड़ी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखक गण घर के बाहर स्वदेशी वेष में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा कारागार का चक्कर लगा आने वाले सैनिक—साहित्यिक के बड़े गुण गान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में उत्तेजक लेख छपते हैं जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक पद और आगे बढ़कर, लेखों को लेखकों के रक्त से आप्लावित देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ कर फेंक देगा और जीवन को नितान्त उग्र और, सम्भव है, पाखंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण, महाकवि रवीन्द्रनाथ को, कियत्काल के लिए ही सही, धक्का लगा और आज हिन्दी-क्षेत्र में भी वही वायु चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले

रहे हैं उसमें यदि साहित्य को राजनैतिक प्रोपेगण्डा का साधन बनाया जाय तो ऐसा होना स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि वितरण करने का हम समर्थन नहीं करते। साहित्य और जीवन का सम्बन्ध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, सम्पूर्ण सौरमंडल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दावली में हम क्षणिक तथ्य को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक तथ्य का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़ें।

साहित्य के साथ जीवन का सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली चार फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के उपरान्त किया गया और हमारे में, आधुनिक रूप में, यह अभी कल की वस्तु है। इंगलैंड में वर्ड्सवर्थ और फ्राँस में विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचारशैली के आविर्भाव करनेवालों में से हैं। प्रारम्भ में इसका रूप अत्यन्त समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान में नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्त्विक भावनाएँ थीं। नवीन जीवन के उपयुक्त ही

नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल जीवन आदि की भावनाएँ दीख पड़ीं। यहाँ तक कि कृत्रिमता सर्वथा नहीं थी। अंग्रेज़ी साहित्य में मैथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियों की प्रशंसा कर सकते थे। परन्तु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-सम्बन्धी शक्तिशालिनी उत्क्रान्ति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप में उसको जनता ने चाह से अपनाया और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं भारत में भी धड़ाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतन्त्र सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन का स्वभाव-सिद्ध सम्बन्ध सर्वथा मंगलमय है; पर क्या इस प्रकार का सम्बन्ध स्वभावसिद्ध कहा जा सकता है? जीवन की स्वच्छन्द धारा ही जहाँ बँधी हुई है वहाँ साहित्य का तो गला घुटा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का संबन्ध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता

है, हम उसकी निन्दा करते हैं।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के प्रसंग में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस, साहित्यकार को भी पब्लिकमैन बना दिया गया। साहित्यालोचन की जो पुस्तकें निकलीं उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किये बिना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसन्धानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत-से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला। बहुत-से पाखण्डी प्रकाश में आये। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म-दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकत्तिया सम्पादक जी की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनन्दभवन' और 'शान्तिनिकेतन' के बीच में ही अटके रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता, क्योंकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद् आदि के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिकत्व' का स्वतः कोई महत्व नहीं। 'सैनिकत्व' इस शब्द का जो अन्तरङ्ग है, साहित्य के भीतर

से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिये। साहित्य और जीवन का यह सम्बन्ध है जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते हैं, पर हिन्दी में लोग ऐसा नहीं करते, इसका हमें दुःख है। अँग्रेजी साहित्य-समीक्षा में व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी बहुत समय तक चली, पर अभी-अभी इसका प्रयोग कम हो रहा है और कदाचित् इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण असूक्ष्म-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बड़ा विषम भाव और बड़ा विद्वेष फैलने की आशङ्का है।

साहित्यकार को जीवन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियों में चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिएँ। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओं और उस संबंध की अपनी धारणाओं से नहीं परख सकते। हमें उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियों से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियों और लेखकों के नैतिक और चरित्र सम्बन्धी स्खलन ही न देखें, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निन्दा न करें, यदि वास्तव में उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौन्दर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व पर नवयुवक बंगालियों

ने अनेक विकट आक्षेप किये हैं और वर्तमान राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यों की भी झड़ी लगाई है, पर क्या साहित्यिक-समीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जाएँगी ? जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर क्रिया को विशेष महत्व नहीं देते और चेतन शक्ति पर विश्वास करते हैं, उसमें महाकवि रवीन्द्रनाथ को इससे अच्छा पुरस्कार मिलना चाहिये। रवीन्द्र बाबू स्वदेश-प्रेम को, सम्पूर्ण मनुष्यता और विश्व-प्रेम को धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए हैं, उन्होंने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से उन्होंने संसार की शान्ति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है जिसकी सम्भावनाएँ भविष्य में अपार हैं। इसके लिए यदि हम उनके कृतज्ञ नहीं होते और यह आवश्यक समझते हैं कि वे जनता के नेता का रूप धारण करें, तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नहीं देती।

साहित्य और जीवन में घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनों में अन्तर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनन्त आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है, साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित हैं। यह अवश्य है कि

हम जिस वायु में साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममें प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल उन परमाणुओं का संग्रह होकर ही नहीं रह सकता। प्रत्येक सभ्य प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान में रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है। साहित्यकार के लिए तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्व है जितना वह उनके विराट सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारों की बात कही जा रही है।

साहित्यकला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुन्दर विशेषताएँ हैं जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नहीं खातीं। साहित्य में 'राम' और 'कृष्ण' चित्र सुन्दर अंकित किये गये हैं, कलाओं में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं, पर जीवन में तो वे वैसे नहीं रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ इन्द्र-धनुष सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएँ जो अनन्त जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि संपूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है। तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी साहित्य तो जीवन से अधिक महत्वपूर्ण बन गया है।

प्रेमचन्द : सामाजिक उद्देश्य

(डा० इन्द्रनाथ मदान)

प्रेमचन्द ने पाठकों के मनोरंजन के लिए या स्त्रियों और पुरुषों की वासना तथा प्रेम की समस्यावाली कहानियों के प्रति उत्पन्न जिज्ञासा को शांत करने के लिए उपन्यास और कहानियों की रचना नहीं की। कला की उनकी भावना बड़ी ऊँची थी। जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे, उनको व्यक्त करने का साधन ही वे कला को समझते थे। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में सामाजिक उद्देश्य और सामाजिक आलोचना का समावेश है और वे मौलिक सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं। थॉमस हार्डी मानव-चरित्र के द्वारा भाग्य या भावी के विचार को व्यक्त करता है और उपन्यास के दूसरे तत्व इसी के आधीन रहते हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्द भी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को प्रमुखता देते हैं और ये समस्याएँ कथा-वस्तु, पात्र, वर्णन तथा कहानी के अन्य तत्वों पर शासन करती हैं। वे इस संसार के सामाजिक दार्शनिक हैं और उनका प्राथमिक उद्देश्य उस समाज के क्रमिक विकास का प्रदर्शन करना है, जो सामाजिक आर्थिक विषमता और राजनीतिक दासता पर आधारित है। वे एक ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, जिसमें न जरूरतें पूरी करने में कठि-

नाई होगी और न किसी प्रकार का भय होगा। वे कुछ-कुछ समाजवादी हैं लेकिन उनका समाजवाद कुछ शुद्ध बौद्धिक विश्वास पर टिका है और कुछ ऊँचे प्रकार की भावुकता पर। उनके उपन्यास किसानों और मजदूरों के सामन्ती और अभिजात्यवर्ग के सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध एक नैतिकतापूर्ण जहाद हैं। उनका समाजवाद भी मानव-व्यक्तित्व के प्रति महान् आदर पर आधारित है। वे इसमें विश्वास करते हैं कि सबको समान अवसर मिले। उनके उपन्यासों में समानता के इस आदर्श की निरन्तर पुनरावृत्ति की गई है। मुझको लिखे गए एक पत्र में उन्होंने कहा—"हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है—इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रांति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह संदेहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ सकता हो। मैं शुद्धिकरण के पक्ष में तो हूँ, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैं ध्वंस की भी चिन्ता नहीं ही होती।"

इस प्रकार प्रेमचन्द एक विकासवादी समाजवादी हैं। वे कष्ट-सहिष्णुता और अहिंसा द्वारा नैतिक दबाव डालनेवाली गांधीवादी नीति के अनुयायी हैं। वे क्रांति से भय खाते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में क्रांति यूरोप की भाँति न जाने किस प्रकार की तानाशाही को जन्म दे। इसी भय के कारण वे सर्व-हारा क्रांति की अपेक्षा वैधानिक और शांतिपूर्ण विकास के मार्ग पर चलना अधिक पसन्द करते हैं।

उनकी दृष्टि में साहित्य जीवन की गंभीर समस्याओं के सम्बन्ध में जनमत तैयार करने का शक्तिशाली साधन था। उन्होंने अपना यह दृष्टिकोण साहित्य के कार्य पर बनाया था, जो जीवन की व्याख्या करता है और उसे परिवर्तित करता है। कविता, नाटक, कथा या निबंध किसी भी रूप में क्यों न हों, उन्हें जीवन के महान् सत्य का उद्‌घाटन करना चाहिए; उसकी भाषा अत्यन्त गठी हुई, प्रौढ़ और सुन्दर होनी चाहिए; तथा उसमें मस्तिष्क और हृदय दोनों को प्रभावित करने की शक्ति होनी चाहिए। प्रेमचन्द जासूसी उपन्यासों, अति प्राकृतिक कहानियों और सस्ती प्रेम-कथाओं का, जो कि उनके पहले प्रचलित थीं, विरोध करते हैं। इस युग के लेखक को जीवन से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था। वे रहस्य और जादू, प्रेम और रोमांस की दुनिया बनाते थे। इन कहानियों का ध्येय पाठकों का मनोरंजन करना और उनके कौतूहल और औद्धत्य की भावना को शान्त करना था। यह एक शून्य और निर्जीव संसार था। प्रेमचंद ऐसे साहित्य-सृजन

के पक्ष में थे, जिसका सबसे बड़ा उद्देश्य मनुष्य के भीतर उन उच्च प्रवृत्तियों और आध्यात्मिक गुणों का विकास करना है जो उसे एक अच्छे संसार के निर्माण करने में आनेवाली बाधाओं को जीतने की शक्ति दे सकें। उनका कहना था कि यह सामाजिक कार्य अतीत काल में धर्म के द्वारा किया गया है। अतीतकालीन संस्कृति उन धर्माज्ञाओं पर आधारित थी, जिनमें पाप के भय और पुण्य के पुरस्कार का उल्लेख है। साहित्य ने धर्म का कार्य ले लिया है लेकिन उसी उद्देश्य को प्राप्त करने की इसकी विधि है—मनुष्य के भीतर गहन और तीव्र सौंदर्य-प्रेम उत्पन्न करना। साहित्यिक कृति की श्रेष्ठता और महानता मनुष्य के भीतर उसकी इसी सौंदर्य-प्रेम को जगाने की क्षमता पर निर्भर है। वे जीवन के संताप, कुरूपता और दरिद्रता के साथ समझौता करने में कठिनाई अनुभव करते थे। जो कुछ भी अभाव उन्हें मानवता में दिखाई देता था वह उनके लिए असह्य हो जाता था। कलाकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन लोगों की सहायता करे और उनका पक्ष ले, जोकि सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय के शिकार हैं। उसे न्याय और प्रेम की भावना को जागृत करके समाज की अदालत में उनके मामले की वकालत करनी है। जिस समय वह उनके मामले की वकालत कर रहा हो उस समय उसे यह अधिकार नहीं कि वह साधारण वकील की भांति सत्य को बढ़ा-चढ़ाकर या उसे बिगाड़कर सामने लावे। वह यथार्थवादी ढंग से कहानी लिखते हैं और मनुष्य का सजीव चित्र अंकित करते हैं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए

वे सावधानी से और निकट से जीवन को देखते हैं, मानव-मन की आन्तरिक हलचल का अध्ययन करते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके पात्र चेतना और जीवन से परिचालित होते रहें।

जहाँ तक प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते हैं कि अपने स्वभाव और विषय की दृष्टि से प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील होता है। वे केवल उन फूलों को प्यार करते हैं, जो फल लाते हैं और उन बादलों को प्यार करते हैं, जो पानी बरसाते हैं। वे सौंदर्य के लिए सौंदर्य से प्रेम नहीं करते। वरन् सौंदर्य वह है, जो जीवन को ऊँचा उठा दे। अतीतकाल में इन भावनाओं ने धार्मिक विचारों के आदर्श-वादियों और नेताओं को प्रेरणा दी है। वे पृथ्वी पर स्वर्ग बनाने के अपने स्वप्न को पूरा करने में असफल रहे हैं। सामाजिक समता का आदर्श जो कि जीवन का महान् आदर्श है, धर्म के द्वारा प्राप्त नहीं हुआ है। कलाकार केवल धनिकों की विचारधारा को ही व्यक्त करता रहा है। उसकी आँखें सदा उनके विलासपूर्ण प्रासादों पर रही हैं, गरीबों की टूटी-फूटी झोंपड़ियों पर नहीं। यह सत्य ही है कि उसने सदैव इन लोगों को मानवता और संस्कृति के क्षितिज के परे की वस्तु समझा है। यदि उसने साहित्य में इनका वर्णन किया भी है तो केवल उनके जीवन का उपहास करने के लिए। प्रगतिशील लेखक मनुष्य को समाज से अलग करके नहीं देखता, वरन् वह मनुष्य और समाज के बीच और भी घनिष्ठ सम्बन्ध की कल्पना

करता है। मनुष्य मनुष्य का शोषण करने के लिए पैदा नहीं हुआ है, बल्कि उसे ऐसा बना दिया गया है। दोनों में कोई प्राकृतिक विरोध नहीं है। इसके विपरीत उसका जीवन समाज के विकास पर आधारित है। साहित्य का कार्य एक विशेष युग में उत्पन्न विरोध को दूर करके उन्हें परस्पर निकट ला देना है। इसीलिए प्रगतिशील साहित्य कर्मशीलता का पथ-प्रदर्शक है।

ग्राम्य-जीवन का चित्रण करने में प्रेमचन्द अग्रदूत हैं और उन्होंने उस जीवन का चित्रण करते समय—उसके विकास और विस्तार के एक विशेष समय में—अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जमीन जोतनेवाला या कुदाली चलानेवाला व्यक्ति शोषण का सब से बड़ा शिकार है। एक लेखक दो कामों में से एक ही काम कर सकता है। या तो वह जमींदारों और पूँजीपतियों के विलासी-जीवन को अपना आदर्श बना ले या किसानों और मजदूरों के दुखी जीवन के चित्र अंकित करे। प्रेमचन्द ने देहाती जीवन की समस्याओं पर अद्भुत सूक्ष्मदर्शिता और सहानुभूति से विचार किया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक उनकी दरिद्रता और भूख का भी वर्णन किया है, जो जमीन जोतते हैं, बीज बोते हैं परन्तु जिनका फसल पर कोई अधिकार नहीं होता। फिर उन्हें देहात के उस खुले जीवन में अत्यंत संतोष मिलता है, जो अभी औद्योगीकरण के कारण विकृत नहीं हुआ है। वे गाँव के शांत वातावरण को अत्यधिक प्यार करते हैं। [illegible] सुदूर देहात में [illegible] की बस्ती देखता है और

उसका आदर्श स्थान के रूप में विस्तार से वर्णन करता है, जहाँ कि वह अपना जीवन आराम से बिता सकता है। नगर के क्षयी जीवन का शिकार एक नागरिक इस आदर्श स्थान में शांति और सान्त्वना प्राप्त कर सकता है। गाँवों को आदर्श बनाने की बात उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में बार-बार कही है। वे कहते हैं कि आज का किसान दुखी है, परन्तु भूतकाल में ऐसा नहीं था। वे दो ऐसे किसानों के चित्र देते हैं, जिनमें भारी अन्तर है। उनमें से एक किसान तो ऐसा है, जो सामन्तवादी व्यवस्था में रह रहा है और उसमें उसके तथा उसके मालिक के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ, प्रत्यक्ष और मानवीय हैं। दूसरा किसान आज का है। 'प्रेमाश्रम' में दलपतसिंह खेती से समृद्धि की हानि होने पर शोक प्रकट करता है। पैदावार प्रति एकड़ बहुत कम हो गई है, किसान की खरीदने की ताकत भी घट गई है और ज़मीन पर दबाव बढ़ गया है।

प्रेमचन्द ने देहात की दरिद्रता का सच्चा और करुण चित्र अंकित किया है। किसान के घर में न धातु के चौके के बर्तन हैं, न बिस्तर है और न खाट। उसकी झोंपड़ी में जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति का भी साधन नहीं है। झोंपड़ी में दो ही छोटी कोठरियाँ हैं—एक आदमियों के लिए और दूसरी जानवरों के लिए। इन कोठरियों में न हवा पहुँच पाती है, न रोशनी। अपने गाँव में इस स्थिति को देखकर मायाशंकर को बड़ा धक्का लगता है। वह देखता है कि वहाँ किसान चीथड़ों में लिपटे हैं और वह उनके लिए भुना हुआ चावल ही जुटा

पाता है। उनके पशु दुर्बल हैं, खाने की तंगी है और दूध कम है। उदाहरण के लिए होरी के पास ठण्ड और जाड़े की तीखी हवा से बचने के लिए कपड़े तक नहीं हैं। उसके पास तम्बाकू की पत्तियाँ भी नहीं हैं, जिससे कि वह लम्बी जाड़े की रात को काट सके। तम्बाकू पीना ही एक ऐसा उपाय है, जिससे वह सर्दी के पीड़ा पहुँचानेवाले प्रभाव को भुला सकता है। वह तम्बाकू के अभाव में अपने शरीर को सिकोड़कर और उसे फटे कम्बल में लपेटकर सर्दी के प्रभाव को भुलाने की चेष्टा करता है। उसकी अपनी साँस भी उसके शरीर को गर्म रखने में सहायता देती है। किसान की यही दरिद्रता क्रोध उत्पन्न करती है। संक्रामक रोगों से परिवार-के-परिवार नष्ट हो जाते हैं, बाढ़ें गाँव-के-गाँव बहा ले जाती हैं। बेचारे असहाय ग्रामीण रोगों और मृत्यु को दीर्घकालीन उदासीनता और परम्परागत शान्ति के साथ देखते रहते हैं। वे इन आपत्तियों और दूसरी बाधाओं को इस प्रकार सहते हैं मानों ये अवश्यम्भावी हों। जीवन के संघर्ष ने उनमें से बहुतों को पतित और पशु बना दिया है। वे घृणा और ईर्ष्या, लोभ और स्वार्थ से भरे हैं। प्रेमाश्रम में ऐसे उदाहरणों की भरमार है जैसे एक किसान अपने भाई के साथ इसीलिए विश्वासघात करता है क्योंकि जमींदार का कारिन्दा ऐसा चाहता है। रंगभूमि में ऐसे किसानों की भारी संख्या है, जो अपने रिश्तेदारों की रिपोर्ट पुलिस में लिखाते हैं। होरी का भाई उसकी गाय को इसलिए नहीं देख सकता कि वह उसकी समृद्धि का प्रतीक है। इस

प्रकार दरिद्रता ने इन प्राणियों को, जो कि कभी मनुष्य थे, पतित बना दिया है। सामाजिक रीति-रिवाज उन्हें भारी ऋण में फंसा देते हैं। विवाह, जन्म और मृत्यु के कुछ ऐसे अवसर हैं, जब उन्हें अपनी शक्ति से अधिक काम करना चाहिए। वे साहूकार से रुपया उधार लेने को बाध्य होते हैं। यह ऐसा ऋण होता है, जिसको चुकाने की आशा वे अपने जीवन में नहीं कर सकते। वे ऋण चुकाने के लिए अपने ढोरों, अपने बर्तनों और अपने घर तक को बेचने के लिए बाध्य होते हैं। प्रेमचन्द उनकी देशी शराब पीने की आदत की ओर भी संकेत करते हैं। भोला शराब की दुकाने में अपना सब-कुछ दाँव पर लगा देता है। एक समय आता है, जब किसान स्वयं इस विलास में डूबा नहीं रह सकता। गिरधर एक ऐसा ही किसान है, जो दरिद्रता की इस स्थिति तक पहुँच गया है कि वह अपनी सालभर की कमाई में से ताड़ी या देशी शराब के लिए केवल एक आना ही बचा पाता है।

ग्राम्य-जीवन का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द ने लोगों को दो वर्गों में बाँटा है—शोषक और शोषित। वे उन सबकी गणना करते हैं। जो किसानों और भूमिहीन मजदूरों का शोषण करते हैं, जमींदार सबसे पहले आता है। पुराने ढंग का जमींदार-वर्ग अदृश्य हो रहा है और उसके स्थान पर एक नये ढंग का जमींदार-वर्ग आ रहा है, जो गरीब जनता के ऊपर अत्याचार करने में बहुत अधिक निर्दय है। ज्ञानशंकर जमींदारों के नये वर्ग का प्रतिनिधि है। वह कभी-कभी अपने किसानों में

घृणा उत्पन्न कर देता है, जो उसे कलंकित और अपमानित करते हैं। वह पाश्चात्य शिक्षा की उपज है। उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं—व्यसन कई गुना हो गये हैं। उसे किसानों से अधिक रुपया वसूल करने की आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ये सभी ज़मींदार, जो ग़रीब जनता की कमाई पर जीते हैं, इस उपन्यास के तीसरे अध्याय में उनका वर्णन और आलोचना विद्यमान है। लेखक की तीक्ष्ण दृष्टि से पुलिस और छोटे कर्मचारियों द्वारा किये गए अत्याचार भी नहीं बच पाए हैं। कृषि-सम्बन्धी प्रत्येक उपन्यास में उन्होंने उनका विस्तृत वर्णन किया है। गाँव में समाज के स्तम्भों का इतनी बुरी तरह भण्डाफोड़ किया गया है कि उनके व्यक्तिगत चरित्र और सामाजिक आचरण के बीच की असंगतियाँ शीशे की तरह साफ़ हो गई हैं। उन सर्वशक्तिमान चपरासियों की भी निर्दयतापूर्वक निंदा की गई है, जो अपढ़ और असहाय ग्रामीणों पर अनुचित अधिकार जताते रहते हैं। रिश्वत और भ्रष्टाचार की प्रथा का वर्णन इन उपन्यासों में विस्तार के साथ किया गया है। उनमें से रामसेवक नामक एक पात्र तो डाक्टरों, स्कूलों के इन्स्पेक्टरों, सिंचाई, लगान, एक्साइज़ और ग्राम-सुधार-विभाग के अफ़सरों तक को नहीं छोड़ता। वे सब उसी थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इस निर्मम शोषण के परिणाम बड़े शोकजनक होते हैं। भारतीय किसान मज़दूर बनने को बाध्य किया जाता है। होरी एक कठिन परिश्रम करनेवाले और ईमानदार किसान का ऐसा उदाहरण है, जिसे अपनी ज़मीन

को बेचकर मज़दूर होने के लिए विविश किया जाता है। बलराज और गोबर नई चेतना के प्रतिनिधि हैं और वे अपने वर्ग के निर्मम शोषण के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। वे वर्ग के आधार पर किसानों का संगठन कर उनका नेतृत्व नहीं करते, वरन् उनका नेतृत्व मध्यवर्ग के प्रगतिशील अंश द्वारा होता है। अन्तिम उपन्यास में रामसेवक किसानों को संगठित करने के लिए एक सूत्र में बांधने में सफल हो जाता है। वह कहता है कि उन्हें शोषण के विरुद्ध खड़ा होना चाहिए अन्यथा वे हर एक आदमी द्वारा कुचले जायँगे।

प्रेमचन्द सुधार के ऐसे सुझाव पेश करते हैं, जिनसे कि ग़रीब किसानों का भला हो सकता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर, ज्वालासिंह, डाक्टर प्रियानाथ और इरफ़ानअली, 'रंगभूमि' में रानी जाह्नवी और विनयसिंह, 'कर्मभूमि' में अमरकान्त, समरकान्त, प्रोफ़ेसर शान्तिकुमार और सलीम ग़रीबों की सहायता के लिए कष्ट सहते हैं। इन ग़रीबों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए लेखक गाँवों के औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है। अपढ़ किसानों को पढ़ाने से ही दरिद्रता की समस्या नहीं सुलझ सकती। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का आधार सहयोग न होकर प्रतियोगिता है, इसलिए उनमें इससे ईर्ष्या, घृणा और अवांछनीय प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो जाएगी। किसानों की दशा सुधारने के लिए जिन क्रांतिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है वे विधान-सभाओं की मन्दगति और असमंजसपूर्ण स्थिति से सम्भव नहीं है। समाज-सुधारक क्रान्तिकारी नारे लगाकर अपने वर्ग का

ही हित-साधन करते हैं। जमींदार अपने किसानों को साधारण-सी सुविधा दे सकते हैं। अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द मौलिक, आर्थिक समस्याओं के हल के लिए इधर-उधर भटकते दिखाई देते हैं। बीस और तीस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के समय वे गांधीवादी विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। एक ईमानदार कलाकार के नाते उन्होंने इसकी सामर्थ्य की जाँच की और पाया कि भयंकर बीमारी के लिए यह एक साधारण-सा इलाज है। भारतीय किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलनों में जो-जो प्रयत्न हुए हैं, उन सबका वर्णन प्रेमचन्द्र ने सचाई के साथ किया है। होरी जैसा पहले दुखी था वैसा ही अब भी है, इन वर्षों में उसकी स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि वह अन्त में उन शक्तिशाली आर्थिक शक्तियों का शिकार हो जाता है जो अपने प्रयोग के समय और भी क्रूर हो उठती हैं।

वैधानिक तरीकों से सामाजिक और आर्थिक सुधार में प्रेमचन्द का विश्वास बहुत कम है। वे वैधानिक सभाओं के उन सदस्यों से अधिक आशा नहीं करते जो कि पीड़ित जनता की भलाई के लिए निरन्तर व्यापक और रचनात्मक कार्य-क्रम ही बनाते रहते हैं। अपने निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए चुनाव लड़ने वाले समाज-सुधारकों और विधानवादियों के सम्बन्ध में 'सेवासदन' में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। मध्यवर्ग के इन अपने से ही सन्तुष्ट रहने वाले नेताओं का उन्होंने विस्तार से चरित्र-चित्रण किया है। समय-समय पर ये नेता किसानों और

मजदूरों की गरीबी से बेचैन हो उठते हैं लेकिन इन समस्याओं पर कुछ प्रश्न पूछकर वे फिर अपने को शान्त कर लेते हैं। डा० श्यामनारायण, राय कमलानन्द, गाँगुली बाबू विधान-सभाओं के कार्य की निरर्थकता का अनुभव करते हैं। वे जानते हैं कि कौंसिलें केवल वाद-विवाद समितियाँ हैं, जो किसी राष्ट्र को स्वतन्त्रता नहीं दिला सकतीं। इन संस्थाओं के खोखलेपन, निरर्थकता और शून्यता का प्रेमचन्द ने खूब भण्डाफोड़ किया है क्योंकि ये ससार को धोखा देने के लिए बनाई गई हैं। प्रति दस वर्ष बाद छेड़े जाने वाले भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के राजनीतिक जनान्दोलन में उनका गहरा विश्वास था। उन्होंने गृह-उद्योग-धन्धों, मद्यनिषेध और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के कार्य-क्रम का समर्थन किया। उन्होंने सदैव उस किसान पर अपनी दृष्टि रखी जो कि इस देश की रीढ़ है। उनके अनुसार स्वराज्य उन किसानों की माँग थी, जो सहयोग के आधार पर भूमि का वितरण देखकर फिर नवजीवन प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए जमींदार को बनाये रखने की जरूरत नहीं है। लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक आन्दोलन से जमींदारों को निकाल दिया जाय। वे भूमि और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के क्रान्तिकारी मार्ग की अपेक्षा सुधारों के विकासवादी मार्ग में विश्वास रखते थे। उसके साथ ही वे यह भी नहीं चाहते थे कि एक शोषक के स्थान पर दूसरा शोषक आ जाय। जो लोग राष्ट्रीयता की आड़ में पूँजीवादी हितों की स्थापना करना चाहते हैं, उनके वे घोर विरोधी

थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वे एक समाजवादी थे और उनका समाजवाद मार्क्सवाद की नक़ल पर नहीं बना था वरन् किसानों के जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से ही उसका निर्माण हुआ था। यह अधिक मूल्यवान है, क्योंकि उन्होंने इसे युग के वास्तविकतापूर्ण वातावरण से ग्रहण किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से कम्यूनिज्म के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया है। वे कहते हैं—"कम्यूनिज्म चाहे फैले, चाहे न फैले परन्तु एक आदर्श समाज का आधार बदल गया है। दूसरी दुनिया के बारे में भारतवर्ष जैसा रूढ़िवादी देश विचारमग्न रह सकता है लेकिन सारा संसार समाजवाद की ओर बढ़ रहा है। समाजवादी का नास्तिकतावाद और बिना जन्म और परम्परा का विचार किये सबको समान अवसर देना सच्चे धर्म के अधिक निकट है।"

इस देश की आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने इस बात का परिचय दिया है कि इनके सम्बन्ध में उनका ज्ञान कितना विशाल है। उन्होंने राजनीतिक सभाओं, जलूसों, लगानबन्दी आन्दोलनों और पूर्ण स्वराज्य के लिए छेड़े गए जनान्दोलनों के वर्णन में अद्भुत शक्ति का प्रदर्शन किया है। ऐसे आन्दोलनों में उनको अहिंसा के प्रश्न का सामना करना पड़ा है। उन्होंने देखा कि भीड़ सदा अहिंसक नहीं रह सकती और उसे इस हद तक उत्तेजित करना सम्भव है कि वह किसी भी प्रकार की अनुनय-विनय से वश में न रहे। वे अहिंसा में सिद्धान्त के रूप से विश्वास नहीं रखते थे वरन् उसे स्वराज्य के लिए उचित अस्त्र और नीति समझ कर अपनाने के

पक्ष में थे। उन्होंने संघर्ष की प्रत्येक स्थिति और स्वरूप को देखा था। उन्होंने इसे विभिन्न वर्गों और सामाजिक दलों के साथ सम्बन्धित करके भी देखा। पूँजीवादी इसमें शामिल हुए और इसका नाश कर दिया, सरकारी अफसर साधारणतः इसके विरोध में थे, मध्यवर्ग ने बहुत कुछ सोच-विचार के बाद इसमें भाग लिया, लेकिन किसानों और मजदूरों ने इसे शक्ति और सामर्थ्य दी। इतना होते हुए भी उन्हें इससे कोई भी लाभ नहीं हुआ। इसने मध्य और उच्च-वर्गों को ही लाभ पहुँचाया है। जीवन की आर्थिक समस्या पर अधिकाधिक बल देने के कारण वे समाज में वर्गचेतना पर अपना ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं। यही कटु अनुभव था, जिसके कारण वे नई परिस्थिति को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए। किसानों के प्रति तीव्र प्रेम ने उन्हें समाजवाद में निष्ठा रखने के लिए बाध्य किया और इस नये दृष्टिकोण ने उनके पिछले ग्रन्थों को नवीन सामाजिक उद्देश्य से पूर्ण बनाया।

प्रेमचन्द यद्यपि परम्परा के अन्धानुयायी नहीं थे तो भी वे प्राचीन सामाजिक ढाँचे की कुछ मौलिक मान्यताओं और आदर्शों को अपनाये रखना चाहते थे। उन आदर्शों में एक है—सम्मिलित परिवार-प्रथा, जिसने कि समाज के हित के लिए बहुत कुछ किया है। चूँकि सामाजिक सुधारों पर उन्होंने नैतिक दृष्टि से विचार किया है, इसलिए उन्होंने परिवार में सामाजिक सम्बन्ध पर जोर दिया। समाज केवल एक बड़ा परिवार है। सम्मिलित परिवार ने अपने सदस्यों के बीच केवल प्रेम और सहयोगी

व्यक्त किया। वे ताज़ी हवा के उस तीव्र झोंके के समान थे, जो लोगों को थकान दूर करने और गहरी सांस लेने का अवसर देता है; वे प्रकाश की उस किरण के समान थे जो अन्धकार को बेध देती है और उनकी आँखों की पलकों को खोल देती है; वे उस बवंडर के समान थे, जो बहुत-सी चीज़ों को अस्त-व्यस्त कर देता है लेकिन जो सबसे अधिक हलचल मनुष्य के मस्तिष्क में पैदा करता है। वे लाखों भारतवासियों के बीच से ऊपर आये थे। वे उनकी भाषा बोलते थे तथा निरन्तर उनकी और उनकी ग़रीबी की ओर लोगों का ध्यान खींचते रहते थे। उन्होंने विभिन्न मात्राओं में लाखों ही को प्रभावित किया। प्रेमचन्द ने अपने जीवन का सारा क्रम बदल दिया। वे प्रगतिशील लेखक बन गए और उन्होंने अपना ध्यान प्रमुख रूप से भारतीय किसान पर केन्द्रित कर दिया। उन्होंने कार्यक्षेत्र की दृष्टि से ग्राम को महत्व दिया। उन्होंने मध्यवर्ग पर भी लिखा, जो कि प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी था। प्रगतिशील तो इसलिए कि वे अतीत की कटु आलोचना करते थे और प्रतिक्रियावादी इसलिए कि वे असुन्दर वर्तमान के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप अतीत को आदर्श मानते थे और उसके पुनरुद्धार की आशा रखते थे। प्रेमचन्द ने प्रतिभा का पूरा-पूरा प्रदर्शन किया। उन्होंने नवीन वर्गचेतना का विकास करते हुए ग़ुलाम और भयभीत किसानों के सम्बन्ध में लिखा; उन्होंने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेकर अपने युग-युग के विषाद को नष्ट करने वाले मध्यवर्ग के लोगों का चित्रण किया; उन्होंने मरती हुई

सामन्ती व्यवस्था और तेजी से आती हुई पूँजीवादी सभ्यता का वर्णन किया। वे निश्चय ही एक ऐसे मानवतावादी थे, जिनका कि मनुष्य की गरिमा में अगाध विश्वास होता है। तीस वर्ष तक साहित्य-सृजन करने का अर्थ यह था कि वे इस बात की उत्कट अभिलाषा रखते थे कि पाठकों में जीवन के प्रति सक्रिय दृष्टिकोण रखने की भावना पैदा हो जाय। उन्होंने उन सभी बुराइयों के विरुद्ध युद्ध किया, जो मनुष्य को उस नवीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने से रोकती हैं, जिसमें कि सबको समान अवसर मिलता है। इसी सामाजिक उद्देश्य से उनका मस्तिष्क परिव्याप्त था और इसी से उनकी कला अनुप्राणित थी।

हिन्दी-उपन्यास

[डा. नगेन्द्र]

मैंने देखा कि एक बृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। उसी समारोह के अन्तर्गत उपन्यास-अङ्ग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है जिसमें हिन्दी के लगभग सभी उपन्यास-कार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्त्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्त्तव्य-कर्म के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत हो गए कि जो साहित्य का कर्त्तव्य-कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत देवकीनन्दन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परन्तु जब व्याख्या के साथ आनन्दमयी विशेषण जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गए। स्वरूप पर काफ़ी विवाद चला। अन्त में मेरे ही समवयस्क एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि-उपन्यासकार उपस्थित हैं; अच्छा हो यदि वे एक-एक कर बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिन्दी के उपन्यास के विवेचन का इससे सुन्दर ढंग और क्या हो सकता है! प्रस्ताव काफ़ी सुलझा हुआ था। फलतः

सभी ने मुक्तकण्ठ से उसे स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाये रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने तत्काल ही एक प्रश्नावली भी पेश कर दी जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाए। उसमें केवल तीन प्रश्न थे :—

(१) आप के मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है?

(२) आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं?

(३) अपने उद्देश्य में आपको कहाँ तक सिद्धि मिली है?

यह प्रश्नावली भी तुरन्त स्वीकृत हो गई, और प्रस्तावकर्त्ता से ही कह दिया गया कि आप ही कृपाकर इस कार्यवाही को गति दे दीजिये। अस्तु!

सब से पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द जी से ही शुरू किया जाता लेकिन प्रेमचन्दजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा—नहीं, नहीं, मुझ से पहले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनंदन खत्री से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनन्दनजी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। प्रेमचन्दजी के आग्रह पर एक सामान्य-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा—भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में

यह विचार आया कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरञ्जन कर यशलाभ करूँ। इसीलिए मैंने चन्द्रकांता-संतति लिख डाली। अद्भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस चित्रलोक की रचना कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना समय था और जीवन की गति इतनी मंद थी कि उन्हें आवश्यकता थी—किसी ऐसे साधन की जो उसमें उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य से उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् अनन्त रहस्यों का भण्डार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इस तिलिस्म के द्वार से टकरा कर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों माँग पूरी करते हैं—उसके मंद जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कौतूहल-वृत्ति को तृप्त करते हैं। इसीलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं—असंख्य पाठकों को उनसे, जो वे चाहते थे, मिला। इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है ? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं—यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की—परन्तु मनोरञ्जन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।

इसके उपरान्त मुन्शी प्रेमचन्द बिना किसी यत्न के आप ही आप खड़े हो गए और अत्यंत सादगी और सचाई

से कहने लगे—भाई, प्रश्न तुम्हारे कुछ कठिन हैं। उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास-साहित्य का तात्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊँगा; पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ—मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः सम्पूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण-सापेक्ष्य है, इसलिए उस पर वातावरण की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यासकार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन व्याख्या शब्द को जरा और साफ़ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ़ स्वरूप, कार्य-कारण वगैरह का विश्लेषण कर उसके भिन्न-भिन्न तत्त्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं है। वह तो वैज्ञानिक का ही काम है—और वस्तुतः सच्चे वैज्ञानिक का भी नहीं, क्योंकि वह भी उस विश्लेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकाल कर ही सन्तुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या इससे बहुत अधिक है—वह तो निर्माण की अनुवर्तिका है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शुद्ध उपयोगितावादी है। अर्थात् मैं जानता हूँ कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह परिस्थितियों के बीच में रहकर मानव-चरित्र का विश्लेषण कर यह समझले कि कहाँ क्या गड़बड़ है, और फिर क्रमशः उस अवस्था तक ले जाए जहाँ वह गड़बड़, वह सारी असङ्गति मिट जाए जो मानव-चरित्र का आदर्श रूप हो। यहाँ मैं स्वप्नलोक

नाले या नदी-नाले, झीलें और पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामला खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं, इसलिए मुझको हिस्टौरिकल रोमान्स पसन्द हैं। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा? इसी रोमान्टिक वातावरण में बाल्यकाल से ही अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूँ—और अपने कानों से उसकी विस्मय-गाथाएँ सुनता रहा हूँ। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियाँ इन खण्डहरों में जीवन का स्पन्दन भरने लगीं, और ये खण्डहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास लिखने लगा। मेरे उपन्यास यदि गौरव-इतिहास को आपके मन में जगा पाते हैं तो वे सफल ही हैं।

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल, अर्धनंगा शरीर, एक अजीव फक्कड़पन का परिचय दे रहे थे, बीच-बीच में काफ़ी चुनौती-भरे स्वर में फ़िक़रे कसकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिन्दी के निर्द्वन्द्व कलाकार 'उग्र' जी हैं। वृन्दावनलाल जी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप खुद ही खड़े हुए और बोले—ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा। और जोश सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वाले लोगों में कहाँ? जोश आता है नीति की चहारदीवारी को तोड़कर,

विधि-निषेधों का जी भरकर; मज़ा लेने से। जोश आता है, जिसे ये लोग तामस और पाप कहकर दूर भागते हैं, उनका मुक्त उपभोग करने से; जब कि मनुष्य की सच्ची वृत्तियाँ दमन की शृंखलाएँ तोड़कर स्वच्छन्द होकर जीवन का माँसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश—मेरे ही उपन्यास—दे सकते हैं, जिनके आत्म-रूप नायक अवसर आते ही नपुंसक बन जाते हैं उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है। यह कह कर उन्होंने अपने व्यंग्य को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्रजी की ओर देखकर हँस दिया।

जैनेन्द्रजी पर चोट का असर तो तुरन्त हुआ, पर उन्होंने अपने को हतप्रभ नहीं होने दिया। हाथ को घुमाकर नर्म की चादर को संभाला और एक खास सादगी के अन्दाज से आँखों को मठराते हुए ऊपर के होंठ से नीचे के होंठ को लपेट कर बोले—अरे भई, उग्रजी के जोश में उबाल लाने वाली चीज़ हमें कहाँ प्राप्त है—और फिर एक नज़र यह देखकर कि उनके इस हाज़िर जवाब का प्रेमचन्दजी और सियारामशरण जी पर क्या असर पड़ा है, कहने लगे—कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा तोड़कर विशृंखल हो गया है। उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं है और सब कुछ है। यह कोई भी स्वरूप धारण कर सकता है। आज के जीवन की तरह वह जैसे एकदम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है। इसलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूँ यह मैं क्या जानूँ। मेरे उपन्यास

जैसे हैं वैसे हैं ही—वे बड़े बेचारे हैं परन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मन में कुछ है जो बाहर आना चाहता है—और उसको कहने के लिए मैं उपन्यास या कहानी या लेख जब जैसी सुविधा होती है लिख बैठता हूँ। आप पूछेंगे कि यह क्या है जो बाहर आना चाहता है। यह है जीवन की अखण्डता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि यह जीवन और जगत् जैसे मूलतः एक अखण्ड तत्त्व है—आज इसकी यह अखण्डता खण्डित हुई-सी लगती है—लगती ही है, वस्तुतः है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पड़कर भटक रहा है—उसके हाथ से जीवन की कुंजी खो गई है, और यह कुंजी है यही अखण्डता की भावना। मैं चाहता हूँ कि वह इसे ढूंढ़ निकाले, नहीं तो निस्तार नहीं है। और इसे ढूँढ़ने का साधन है केवल एक प्रेम या अहिंसा। प्रेम या अहिंसा का अर्थ है दूसरे के लिए अपने को पीड़ा देना—पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीड़न के ही साधन हैं, और इसीलिए मैंने उनमें काम-वृत्ति की प्रधानता रखी है क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्म-पीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक को जितनी आत्म-पीड़न की प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा कर जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं उतने ही सफल कहे जा सकते हैं। इतना कहते हुए धीरे से जैसे ऐसा करने में भी किसी प्रकार की हिंसा का डर है, वे बैठ गए।

इसके बाद सियारामशरणजी से प्रार्थना की गई कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करें परन्तु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा—

हम क्या कहेंगे, अभी जैनेन्द्र भाई ने जैसा कहा है हमारा भी वैसा ही मत है।

तब पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नम्बर आया। अपने गोलाकार मुख-मण्डल को थोड़ा और गोल करते हुए वे बोले—उपन्यास-सम्राट् श्रीयुत् प्रेमचन्दजी, और साथियो! मेरे भाई जैनेन्द्रजी ने जो कहा अभी तक मेरा भी बहुत कुछ वही मत था। परन्तु आज मैं स्पष्ट देख रहा हूँ—और यह कहते ही अंचल जी की ओर देखकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गए; जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं वह उन्हें अंचल जी के मुख पर साफ नजर आ रहा है—कि आज के मनाव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरत् या गाँधी नहीं बनना, शोलोखव और स्टालिन बनना है।

अब वात्स्यायन जी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें—माँग हुई। वात्स्यायनजी ने अपना वक्तव्य आरम्भ कर दिया। परन्तु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था मुझे सिर्फ उनके होंठ ही हिलते दिखाई देते थे, सुनाई कुछ नहीं पड़ता था। उग्र जी ने एक बार उनको ललकारा भी—अरे सरकार! जरा दम से बोलिए, आखिर आप स्वगत-भाषण तो नहीं कर रहे, मजलिस में बोल रहे हैं। वात्स्यायन जी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हारकर मुझे ही उनके पास जाना पड़ा। कह रहे थे············यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें जैसा मैंने प्रवेश में कहा है मेरा दृष्टि-

कोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने राग-द्वेष को सर्वथा पृथक् रखकर वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा। किसी व्यक्ति का, विशेषकर उस व्यक्ति का जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूँ और वह विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्व और भी कई गुना हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेष-विहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनन्द राग-द्वेष में बहने के आनन्द से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। शेखर को पढ़कर आप जितना ही इस आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।

इतने ही में इलाचन्द्र जी स्वतः-प्रेरित से बोल उठे—वात्स्यायन जी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनन्द कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनो-विश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का कायल हूँ, परन्तु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना तो मनो-विश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ्रॉयड ने भी मनो-विश्लेषण को साधन ही माना है साध्य

नहीं। चरित्र में पड़ी हुई ग्रंथियों को सुलझाकर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनन्द सच्चा है—स्वस्थ आनन्द है।

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिए मुझे सचमुच बड़ा सन्तोष हुआ जब प्रश्नकर्त्ता महोदय ने उठकर कहा कि अब देर काफी हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने-अपने मन्तव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपाल जी ही अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

यशपाल जी बोले—वात्स्यायन जी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूँ, परन्तु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनन्द की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनन्द और कुछ नहीं, शुद्ध आत्मरतिमात्र है। वात्स्यायन जी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं—उन्होंने जीवन और जगत् को अपनी सापेक्षता में देखा और अंकित किया है—जैसे सभी कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा है। मेरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियों को अपनी व्यष्टि में ही केन्द्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को सम्पूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिल्कुल गलत अर्थ समझना है। आत्मरति एक भयंकर रोग है। उससे

उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छूकर नहीं रह जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परन्तु चूँकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचन्द का उपन्यास प्राण चेतना के आर-पार नहीं देख पाता—विवेक को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। उसकी विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पातीं। इसीलिए तो प्रेमचन्द की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का कायल होकर भी मुझे उनमें और शरत् या रविबाबू में बहुत अन्तर लगता है। प्रेमचन्द जी की इस बहिर्मुख सामाजिकता को उसी समय प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा और उग्र ने चैलेञ्ज किया—प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृन्दावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़ अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उस उथली नैतिकता को चुनौती दी। परन्तु गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोक-रुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचन्द का गतिरोध करना असम्भव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष तक ही सीमित थी, उसके अध्यात्म तक नहीं पहुँच पाई थी। जीवन के इस तल तक पहुँचने का प्रयत्न जैनेन्द्र जी ने किया है। विवेक और नीति से आगे अध्यात्म की ओर बढ़ने का उनको और सियारामशरण जी को आरम्भ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की निष्क्रियता में गाँधीवाद का अध्यात्म-पक्ष ही तो है। दृष्टिकोण

की दो तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ हमें भगवती बाबू की चित्रलेखा
और 'अज्ञेय' के शेखर में मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक
वृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं। उनकी आस्था
स्वस्थ उपभोग में है—अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में
है। 'अज्ञेय' का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक है। ये
नास्तिक-बुद्धिवादी हैं। उनके इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और
स्थिरता के कारण वास्तव में शेखर हिन्दी की एक अभूतपूर्व
वस्तु बन गई। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ काश अज्ञेय के
पास आस्तिकता का समर्पण-भाव भी होता! यशपाल में यह
प्रतिक्रिया एक पग और बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक
न रह कर भौतिकवादी हो जाता है। 'अज्ञेय' की बौद्धिकता इनमें
भी है, परन्तु वैज्ञानिक आत्मलीनता उनमें नहीं है—ये अपने
बाहर जाते हैं, इनमें भौतिकवादी सामाजिकता है......।

ऊबे हुए लोगों में से इतने ही में एक आवाज़ आई—आपने
क्या खूब संश्लेषण किया है! और मैंने आँखें मलते हुए देखा,
कि काफ़ी दिन चढ़ आया है और श्रीमती जी पूछ रही हैं—
छुट्टी है क्या आज?

———

वेदना गाई, कागों और कुरजों के साथ संदेश भेजे और सूनी सेज की शिकायत की। सिर पर घड़ा और घड़े पर 'बेवड़ा' रखे, पानी को जाती हुई पनिहारियों ने अपनी मीठी वाग्धारा से अग-जग को आप्लावित कर दिया। आज भी संध्या समय काम-काज से निपटने के पीछे गानार्थ जुटा हुआ नारी-मण्डल और बालिका-समाज गांव-गांव में दिखाई पड़ेगा।

नारी ने कितना गाया है। सीमंत के गीतों द्वारा गर्भस्थ शिशु को गीत-रस पिलाया, जन्मभर 'हालरे' गाये; माँ के मुँह से निकली लोरियों की गोद में नवजात शिशु सोया और जागा। बालक ने जनेऊ पहना, गीत गाये गये। वह पढ़ने बैठा, गीत गाये गये। सगाई हुई, गीत गाये गये। विवाह हुआ, हर्ष में पागल बनी माता बनड़े गवाने बैठी। नववधू घर आई, गीतों ने उसका स्वागत किया। घर में उत्सव हुआ, बिना गीतों के कैसे सम्पन्न हो? त्यौहार आये, गीतों का गाया जाना तो अनिवार्य ठहरा!

हमारा समस्त गृहस्थ-जीवन नारी का गान है। उस गान में कहीं माँ के मीठे स्नेह की सुरसरिता बह रही है, तो कहीं पत्नी के प्रेम-निर्झर की वेगवती श्यामा कलिन्द-नन्दिनी। बहन के पावन-प्रेम की सुधासिंचित सरस्वती ने तो गजब ढा दिया। जैसा स्वर्गीय सम्बन्ध भाई बहन का है वैसा ही निर्मल, मधुर, बहन का गान।

कितना मनोरम, कितना मर्मस्पर्शी और कितना स्वाभाविक है यह नारी का गान! अन्तस्तल की तन्त्री के एक-एक तार को झंकृत कर देने वाले इस गान को सभ्यता के कृत्रिमता-पूर्ण वाता-

वरण में रहनेवाले शास्त्रीय कलाकार की वाणी· पहुँचे तो कैसे पहुँचे ।

नारी-हृदय में जब-जब सुख दुःख, आशा-निराशा, उमंग आधात की प्रबल लहर उठ खड़ी हुई तभी वह गान के रूप में फूट निकली। उसने अपने भावों को (भले हों या बुरे) निष्कपट रूप से शब्दों का रूप दिया है। उसमें सरलता है, निश्छलता है; भाव-गोपन की भावना कहीं नहीं मिलती। भीतर कुछ, और बाहर कुछ यह तो हमारी इस अतिप्रशंसित सभ्यता की ही देन है। लोक-गीतों का नारी-हृदय इस सभ्यता के वातावरण से कोसों दूर है ।

कुटुम्ब-जीवन के जुदा-जुदा सम्बन्धों के अनेक स्वाभाविक चित्र इन गीतों में देखने को मिलते हैं। भाई बहन का प्रेम, ससुराल में नववधू की व्यथा, सास-ननद के अत्याचार, जेठानी का रोब जमाना, देवरानी का निर्दोष भाव, निस्संतान स्त्री का नरक-तुल्य जीवन, और उस पर बरसते हुए वाग्बाण, छोटी-छोटी बातों से दुख जानेवाला बहन का हृदय इत्यादि-इत्यादि न जाने कितने सुन्दर एवं असुन्दर गृह-चित्रों की रेखाएँ इन गीतों में उतारी गई हैं।

इन गीतों में दाम्पत्य-जीवन गाया गया, वियोग के महीने गाये गये, सूनी सेज की वेदनाएँ गाई गई, मान-मनावन गाया गया। पर यह न समझिये कि इनमें केवल रुदन ही रुदन है, इनमें वह मार्मिक विनोद भी मिलेगा जिससे आप फड़क उठेंगे।

देश और गाँव का इतिहास इन गीतों में गाया गया। इन्होंने

शूरों को 'शूरातन' चढ़ाया। वीर हृदयों में वीरत्व की स्फुरणा की। वीर गति पानेवालों का नाम अमर रक्खा। अलिखित इतिहास को विस्मृति के गर्त्त में जाने से बचाया। समाचार-पत्रों से रहित उस ज़माने में हास्य-तिरस्कारोत्पादक घटनाओं के व्यङ्ग-चित्र भी इनमें उतारे गए। लोक-जीवन में जो कोई प्रवाह उमड़ा उसी का चित्र लोक-गीतों में अंकित हो गया। लोक-गीत लोक-जीवन का चित्र हैं।

ये लोक-गीत सच्चे काव्य हैं। 'कविता वह साधन है जिस के द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा तथा निर्वाह होता है' 'सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का भीतरी सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है' ये लक्षण लोक-गीतों से अधिक किस पर लागू होंगे? प्रकृति अपने नाना रूपों में इन गीतों में अङ्कित हुई। वह हमारे साथ कभी रोती है, कभी हँसती है, कभी गरजती है, कभी गाती है। वन-पर्वत, नदी नाले, कछार-पटपर, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, अनंत-आकाश, और नक्षत्र-मण्डल, खेत-दुर्रा, हल-झोंपड़े आदि मनुष्य के आदिम सहचर इनमें भुलाये नहीं गए हैं। काग, कुरज और सुग्गे प्रेयसी के विरह-संदेश-वाहक, जलाशयों के किनारे सखियाँ इकट्ठी होकर सुख-दुःख की कहानी सुनती-सुनाती तथा गले लग कर हँसती रोती हैं। तारा-मण्डित आकाश फूलों से लदी सेज की याद दिलाता है। वृक्षों से झूमती हुई लता प्रिय से मिली हुई संयोगिनी का स्मरण कराती है। चन्द्र विहीन रात्रि, बिजली-विरहित मेघमाला, मयूर-विहीन अटविका, यूथप-विहीन

मृग-मण्डली प्रिय से वियुक्त विरहिणी का चित्र खड़ा करती है। ऋतु-वर्णन में तो उन-उन ऋतुओं की आत्मा ही खड़ी कर दी गई है।

नारी की इस महान् सृजन-शक्ति का लोप अभी नहीं हो सकता है। जब कभी उसके अंतर में कोई प्रबल 'उमंग' उठ खड़ी होती है तभी एक नवीन गीत की सृष्टि की जाती है परन्तु प्रगतिमान सभ्यता के प्रभाव में यह शक्ति कब तक बची रहेगी, यह कौन कह सकता है? सभ्यता और तथाकथित संस्कृति लोक-साहित्य की महान् शत्रु है, जैसा प्रोफ़ेसर किटरिज ने कहा है—'शिक्षा इस मौखिक साहित्य की मित्र नहीं होती। वह उसे इस वेग से नष्ट करती है कि देख कर आश्चर्य होता है। ज्यों ही कोई जाति लिखना-पढ़ना सीख जाती है त्यों ही वह अपनी परम्परागत कथाओं की अवहेलना करने लग जाती है, यहाँ तक कि उनसे थोड़ी-बहुत लज्जा का अनुभव भी करने लगती है, और अंत में उनको याद रखने तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने की इच्छा एवं शक्ति से भी हाथ धो बैठती है। जो चीज कभी समस्त जनता की थी वह केवल निरक्षरों की सम्पत्ति रह जाती है; और यदि पुरातत्व-प्रेमियों द्वारा संग्रहीत न कर ली जाय तो सदा के लिए विलुप्त हो जाती है।

शूरों को 'शूरातन' चढ़ाया। वीर हृदयों में वीरत्व की स्फुरणा की। वीर गति पानेवालों का नाम अमर रक्खा। अलिखित इतिहास को विस्मृति के गर्त्त में जाने से बचाया। समाचार-पत्रों से रहित उस जमाने में हास्य-तिरस्कारोत्पादक घटनाओं के व्यङ्ग-चित्र भी इनमें उतारे गए। लोक-जीवन में जो कोई प्रवाह उमड़ा उसी का चित्र लोक-गीतों में अंकित हो गया। लोक-गीत लोक-जीवन का चित्र हैं।

ये लोक-गीत सच्चे काव्य हैं। 'कविता वह साधन है जिस के द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा तथा निर्वाह होता है' 'सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का भीतरी सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है' ये लक्षण लोक-गीतों से अधिक किस पर लागू होंगे? प्रकृति अपने नाना रूपों में इन गीतों में अङ्कित हुई। वह हमारे साथ कभी रोती है, कभी हँसती है, कभी गरजती है, कभी गाती है। वन-पर्वत, नदी नाले, कछार-पटपर, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, अनंत-आकाश, और नक्षत्र-मण्डल, खेत-दुर्री, हल-झोपड़े आदि मनुष्य के आदिम सहचर इनमें भुलाये नहीं गए हैं। काग, कुरज और सुग्गे प्रेयसी के विरह-संदेश-वाहक, जलाशयों के किनारे सखियाँ इकट्ठी होकर सुख-दुःख की कहानी सुनती-सुनाती तथा गले लग कर हँसती रोती हैं। तारा-मण्डित आकाश फूलों से लदी सेज की याद दिलाता है। वृक्षों से झूमती हुई लता प्रिय से मिली हुई संयोगिनी का स्मरण कराती है। चन्द्र विहीन रात्रि, बिजली-विरहित मेघमाला, मयूर-विहीन अटविका, यूथप-विहीन

मृग-मण्डली प्रिय से वियुक्त विरहिणी का चित्र खड़ा करती है। ऋतु-वर्णन में तो उन-उन ऋतुओं की आत्मा ही खड़ी कर दी गई है।

नारी की इस महान् सृजन-शक्ति का लोप अभी नहीं हो सकता है। जब कभी उसके अंतर में कोई प्रबल 'उमंग' उठ खड़ी होती है तभी एक नवीन गीत की सृष्टि की जाती है परन्तु प्रगतिमान सभ्यता के प्रभाव में यह शक्ति कब तक बची रहेगी, यह कौन कह सकता है? सभ्यता और तथाकथित संस्कृति लोक-साहित्य की महान् शत्रु है, जैसा प्रोफ़ेसर किटरिज ने कहा है—'शिक्षा इस मौखिक साहित्य की मित्र नहीं होती। वह उसे इस वेग से नष्ट करती है कि देख कर आश्चर्य होता है। ज्यों ही कोई जाति लिखना-पढ़ना सीख जाती है त्यों ही वह अपनी परम्परागत कथाओं की अवहेलना करने लग जाती है, यहाँ तक कि उनसे थोड़ी-बहुत लज्जा का अनुभव भी करने लगती है, और अंत में उनको याद रखने तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने की इच्छा एवं शक्ति से भी हाथ धो बैठती है। जो चीज़ कभी समस्त जनता की थी वह केवल निरक्षरों की सम्पत्ति रह जाती है; और यदि पुरातत्व-प्रेमियों द्वा[illegible] ली जाय तो सदा के लिए विलुप्त हो जाती है